हिन्दी साहित्य के कुछ नारीपात्र

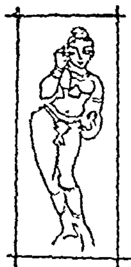
[मानवी रूप में विवेचन एवं पुनर्मूल्यांकन]

लेखिका
डॉ० माधुरी दुबे
हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

समर्पण

परम्परा और परिवेश में संतुलन
स्थापित करने वाली, अपने
व्यक्तित्व में विशिष्ट,
संघर्षमयी अपनी
माँ को

—माधुरी दुबे



प्रश्न नारी के मूल्यांकन का ? [पृष्ठ एक से दश]

प्रथम भाग

[मध्यकालीन साहित्य के नारीपात्र]

१. तुलसी की प्रेरक : रत्नावली ३
२. मर्यादामयी माँ : कौसल्या ११
३. करुण, कोमल, त्यागमयी : सीता २३
४. स्वाभिमानिनी : सीता ३५
५. अभागिन रानी : कैकेयी ४३
६. रावण की पटरानी : मंदोदरी ५७
७. पद्मावत की विरहिणी : नागमती ६५
८. प्रेम की देवी : राधा ७७
• धार्मिक साहित्य में राधा • साहित्य मे राधा • जयदेव की राधा • विद्यापति की राधा • चण्डीदास की राधा • सूर की राधा

द्वितीय भाग (क)

[आधुनिक काव्य साहित्य के नारीपात्र]

९. प्रियप्रवास और कनुप्रिया की : राधा ११३
१०. उपेक्षिता : उर्मिला १२५
११. महिमामयी : यशोधरा १४५
१२. पीयूषस्रोत सी मधुर : श्रद्धा १६५

द्वितीय भाग (ख)

[आधुनिक गद्य साहित्य के नारीपात्र]

१३. आकाशदीप की नायिका : चम्पा १८१
१४. त्यागपत्र की : मृणाल १८६
१५. क्रांतिकारिणी : धनिया १९७
१६. प्रेम और त्याग की प्रतिमूर्ति : निपुणिका २१७

प्राक्कथन

प्रश्न नारी के मूल्यांकन का ?



जन्म से अभिशप्त, जीवन से संतप्त, अक्षय वरदानमयी नारी सदियों से समाज द्वारा उपेक्षित और उत्पीड़ित है। उसे यह अधिकार ही कभी नहीं मिला कि वह समाज द्वारा लादे गये बंधनों को काट सके, शृंखलाओं को तोड़ सके और मुक्तभाव से जी सके !

आज जब अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में घटित परिवर्तनों के प्रभाव, आर्थिक अभाव और शिक्षा के प्रसार ने नारी को झकझोरा है, साहित्यकारों को संवेदित किया है तो युग संदर्भ मे सृजित नये साहित्य में यह प्रश्न बार-बार उभर कर आ रहा है कि नारी को देवी या राक्षसी रूप में न देखा जाकर मानवी और स्वतन्त्र सामाजिक प्राणी के रूप मे देखा जाये, सामाजिक समस्या के रूप मे विश्लेषित किया जाये। यह प्रश्न-चिह्न नारी और पुरुष के सह-अस्तित्व और सामाजिक सम्बन्ध के प्रसंग मे आदिकाल से लगा है। आज भी वैसे ही बना हुआ है और समाधान की अपेक्षा रखता है। प्रत्येक युग के साहित्य मे नारी का चित्रण और मूल्यांकन हुआ लेकिन नारी के सामाजिक अस्तित्व पर लगे प्रश्न-चिह्न को कोई भी मर्यादाजनक समाधान प्रस्तुत कर हटा नहीं पाया है। मुझे यह दश सदा से सालता रहा है कि क्यो नहीं नारी को यह मानव-सुलभ अधिकार मिला ? आखिर क्यो ? इसीलिये मैंने हिन्दी साहित्य के प्रमुख नारीपात्रो को लेकर चिरकाल से चले आ रहे इसी प्रश्न का उत्तर ढूँढने का प्रयास किया है।

सदियों से नारी, पुरुष के जीवन की गतिविधि मे साथ देती आ रही है। फिर भी वह नारी को केवल अनुगामिनी, अबला और आध्यात्मिक जीवन में बाधकरूप अभिशाप ही मानता रहा है। उसकी दुर्ब

को जानते हुए भी उस पर नियंत्रण रखने का प्रयास किया है। उसे अगणित बंधनों में बाँध कर उसके मन और शरीर दोनों को धार्मिक और सामाजिक नियमों की शृंखला में जकड़ दिया है।

वैदिककाल और उत्तर-वैदिककाल का पुरुष मनोविज्ञान का ज्ञाता था। तभी उसने नारी की प्रशंसा में साहित्य सृजन किया और यहाँ तक कह डाला कि जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार हो उस कुल में दिव्य गुण भोग और दिव्य गुण संतान का वास होता है, जिस कुल में इनकी पूजा नहीं होती उस कुल के सुख-प्राप्ति के सब उपाय निष्फल होते हैं।[1] कभी उसे परिवार के व्यास का केन्द्र-बिन्दु, गृहलक्ष्मी, सरस्वती, और अन्नपूर्णा के अलंकारों से आभूषित किया तो कभी धार्मिक ग्रन्थों में उसके लिये प्रतिबन्धपूर्ण नियम बनाये। उसे ममतामयी माँ, गरिमामयी पत्नी, स्नेहशीला बहन, और कर्त्तव्यनिष्ठा पुत्री कहकर आदर्श के आवृत में बाँधा। यदि इन विशेषणों के आडम्बर को हटाकर उसके मानव-सुलभ अस्तित्व का अध्ययन किया जाये तो वह पुरुष की इच्छा के अनुरूप चलने वाली दासी ही अधिक दिखाई देती है। ये सब विशेषण और अर्चन-आयोजन उसे परिवार के संकीर्ण दायरे में बाँधने का प्रयास मात्र जान पड़ते हैं। क्यों याज्ञवल्क्य ने विदुषी मैत्रेयी को ऐश्वर्य देकर प्रवंचित करना चाहा था? क्या मैत्रेयी ने इस ऐश्वर्य को ठुकराकर प्रमाणित नहीं कर दिया कि उसकी स्वतन्त्र सूझ-बूझ, विवेक-शक्ति और गम्भीर जीवन-दृष्टि किसी भी पुरुष से श्रेष्ठ हैं? कुछ अन्य नारियों के नाम भी गिनाये जा सकते हैं जो किसी प्रकार सामान्य नारी की शृंखलाएँ तोड़ कर आगे बढ़ीं जैसे गार्गी, सुलभा, घोषा और विश्ववारा इत्यादि। क्या वे विद्वता में पुरुष से कम कही जा सकती हैं। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि इस प्रकार का अवसर पाने वाली नारियाँ नगण्य हैं। यह सब हुआ समाज की, समाज पर शासन करने वाले पुरुष की स्वार्थपरता

---

[1] यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रिया॥

के कारण। नारी की क्षमा, दया, त्याग और शान्ति-सुलभ प्रवृत्तियों को सदा ही शोषण का साधन बनाया गया। उत्तर-वैदिककाल में नारी के प्रति यही दृष्टिकोण रहा।

आदिपुरुष मनु ने अपना उपकार करने वाली श्रद्धा को प्रारम्भ में क्या-क्या कष्ट दिये? उसे दो बार छोड़कर भी गये लेकिन अन्त में उसीने उन्हें घायल अवस्था में वेदनारहित किया, उनका पथप्रदर्शन किया और दुःख, संताप और पीड़ा से मुक्ति दिलाकर उन्हें आनन्दलोक ले गई। पीयूषस्रोत-सी मधुर श्रद्धा जैसा नारीरूप हमें आधुनिक साहित्य में पहिले के साहित्य में चित्रित नहीं मिलता। इतनी पुरानी कथा होने पर भी पूर्ववर्ती साहित्यकारों ने इससे प्रेरणा क्यों नहीं ली यह आश्चर्यजनक बात है। क्यों सदियों से नारी समाज की ताड़ना सहती रही? क्यों नहीं वह पुरुष की पथ-प्रदर्शिका बनी? क्यों भोग-विलास का साधन मात्र बनकर रह गई? समाज को स्वस्थ, उन्नत और सांस्कृतिक बनाने में समर्थ होते हुए भी क्यों नहीं उसे स्वतन्त्र अस्तित्व के लिये संघर्ष करने दिया गया? ये विचारणीय प्रश्न हैं? इन प्रश्नों की जड़ें इतिहास और प्राचीन साहित्य के पृष्ठों में खोजी जा सकती हैं। रामायण और महाकाव्यकाल को लीजिये जिनकी महिमा गाते हमारे धार्मिक नेता और साहित्यकार थकते नहीं हैं। उसी महाकाव्यकाल में पुरुषों की श्रेष्ठता और नारी की दुर्बलता का खूब प्रचार हुआ। साहित्य में नारी के उज्ज्वल पक्ष के साथ अवनत पक्ष का चित्रण किया जाने लगा। रामायण और आगे चल कर भक्तिकाल में रामचरितमानस में चित्रित सीता और कौसल्या की वेदना की क्या थाह ली जा सकती है? अकारण ही रामवनवास की आज्ञा मिलने पर भी न कौसल्या ने इसका विरोध किया और न सीता ने ही। कौसल्या ने सुख-दुःख समान समझ, मर्यादा के नाम पर सब कुछ सह लिया। पतिव्रता सीता, दर-दर की ठोकरें खाने के लिये राम के पीछे छाया की तरह वन चल दी। जिस सीता ने सम्पूर्ण जीवन पतिव्रत-धर्म के पालन में लगा दिया

जिसके पातिव्रत्य तेज से रावण पास नहीं फटक सका, उस सीता की राम ने अग्निपरीक्षा ली और परीक्षा लेने के बाद भी समाज की इच्छा और लोकोपवाद के नाम पर उसे निष्कासन दिया। सती-साध्वी पत्नी का इतना अपमान — क्या यह मर्यादा पुरुषोत्तम राम के लिये उचित था ? यद्यपि वाल्मीकि ने यह प्रसंग अपने आँसुओं से लिखा है फिर भी सीता द्वारा उन्होंने इस अन्याय का विरोध तो नहीं करवाया और तुलसी ने बड़ी चतुराई से इस प्रसंग को ग्रंथ से ही हटा दिया, क्योंकि उनके पास इस प्रसंग के लिये अपने इष्टदेव के पक्ष में कोई समर्थक दलील नहीं थी। लोक-मर्यादा का स्वर ही राम के जीवन में प्रधान रहा; न कि सीता के प्रति प्रेम और स्नेह। पुष्पवाटिका का प्रसंग, धनुष-भंग-प्रसंग और रावण-वध, सबके पीछे यही धारणा कार्य करती प्रतीत होती है। यही कारण है कि निर्दोष सीता को, सामान्य से प्रजाजन के कहने से, उन्होंने त्याग दिया। अंत में यदि अपनाना भी चाहा तो पराक्रमी पुत्रों से हारकर उन पर इस ढंग से अधिकार करने के लिये। लेकिन धरित्री में विलीन होकर सीता ने ठीक ही किया। आदर्शों के नाम पर जड़ पाषाण-पिण्ड बने राम के पास वापस लौटने से तो धरित्री में समा जाना ही अधिक श्रेष्ठ था। उस युग के श्रेष्ठतम व्यक्ति ने श्रेष्ठतम नारी के अस्तित्व को इतना नगण्य समझा तो और दूसरी नारियों की स्थिति का अनुमान तो लगाया ही जा सकता है।

महाभारत-काल की नारी भी केवल पुरुष-भोग्या है। वह अपने आपको इसी में कृतार्थ मानती है। पुरुष उसका भाग्य-विधाता और जीवन-केन्द्र था। जिस राधा के साहचर्य ने कृष्ण के शिशु और किशोर जीवन में माधुर्य भर दिया, जिसने अपनी सम्पूर्ण प्रेम साधना कृष्ण को समर्पित कर दी, जिसने मान-सम्मान और कुल-मर्यादा को कृष्ण के सामने कुछ नहीं समझा और रासलीला में उनका मनोरंजन करती रही, उसे कृष्ण ने दिया चिरकालीन एकाकीपन और अडिग प्रतीक्षा। कृष्ण असंख्य राजकुमारियों को सामाजिक मर्यादा के नाम

पर अपना सकते थे, फिर राधा को ही क्यों नहीं अपनाया ? इसलिये कि वह सामान्य स्थिति की नारी थी। उसके एकाकीपन, पीड़ा और घुटन के लिये क्या कृष्ण के पास कोई समाधान नहीं था ? धर्मवीर भारती ने कनुप्रिया में राधा से ठीक ही उलाहना दिलवाया है। क्यों कृष्ण ने उसे केवल 'सेतु' समझा ?

'सुनो कनु सुनो,
क्या मैं सिर्फ एक सेतु थी तुम्हारे लिये
लीला-भूमि और युद्ध-क्षेत्र के अलंघ्य अंतराल में।'

बुद्धकाल में गोपा का त्याग क्या बुद्ध के बुद्धत्व से कम है ? लेकिन क्या आधुनिक काल से पूर्ववर्ती साहित्यकारों ने उसके त्याग और पीड़ा को महत्व दिया ? बौद्ध-धर्म के बाद तो नारी केवल विलास का साधन बन गई। उसके अधिकार कम होते गये और भक्तिकाल तक आते-आते अनेक कुरीतियों के विस्तार के कारण साधना और कर्त्तव्य के मार्ग में उसे बाधक समझा गया। रीतिकाल में तो वह शुद्धरूप में शृंगार और वासना का साधन बनकर रह गई। क्रमशः धीरे-धीरे गृह-प्राचीरों मे उसे बंदिनी हो जाना पड़ा। मुझे यहां डा० राधाकृष्णन् का यह कथन उचित ही लगता है कि –

'पुरुषों ने, जो स्त्रियों के संबंध मे प्रकट किए गए अधिकांश दृष्टि-कोणों के लिये उत्तरदायी हैं, स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष की श्रेष्ठता के विषय में मनगढ़ंत कहानियाँ बना ली हैं। उन्होंने अपनी सारी सूझबूझ नारी की रहस्यमयता और पवित्रता के साथ-साथ उसके सौन्दर्य और अस्थिरता के चित्रण में लगा दी है।'

रीतिकाल के बाद आधुनिक काल में पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति के विकास, अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क, धार्मिक-सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय आन्दोलनों के विकास ने अनेक संकीर्णताओं को तोड़ा और समाज में नारी के प्रति दृष्टिकोण उदार बना। लेकिन इस उदारता के पीछे भी उसे देवीपद प्रदान करने की भावना अधिक थी, मुक्त मानवी-रूप में

देखने की भावना कम। फिर भी मैथिलीशरण गुप्त द्वारा कैकेयी; उर्मिला और यशोधरा का जो चित्रण हुआ उसमें नारी को मानवी रूप में देखने के संकेत अवश्य हैं। इसीलिये आदर्शों से घिरी हुई इन नारियों की पीड़ा के क्षणों में बार-बार यह प्रश्न सत्य बनकर वाणी में अभिव्यक्त हो गया है। उर्मिला का पंचवटी में लक्ष्मण से यह कहना कि 'हे स्वामी मैं तुम्हें बाँध न लूंगी, भय तज दो' और वनवास के बाद मिलन के समय यह कहना कि 'सब कुछ दूंगी पर वह यौवन कहाँ से लाऊँगी ?' मानवी अधिकार की आकांक्षा की आकुलता ही है। यशोधरा का बुद्ध की वापसी पर दौड़कर मिलने न जाना नारीत्व के मूलभूत समानाधिकार की माँग और स्वाभिमान की अभिव्यक्ति ही है। चम्पा के एकाकीपन की व्यथा और प्रेम की असफलता आदर्शवाद के हस्तक्षेप का ही परिणाम है। कहने का तात्पर्य यह है कि द्विवेदी-काल तक यद्यपि साहित्यकारों का दृष्टिकोण नारी चित्रण में उदार हो गया था, लेकिन आदर्श, मर्यादा और कर्त्तव्य के नाम पर अब भी नारी को प्रवंचित किया जा रहा था और साहित्य में भी वैसा ही चित्रण हो रहा था।

साहित्य में जिस तरह प्रेमचंद ने सभी दृष्टियों से युगान्तर स्थापित किया, उसी प्रकार नारी को भी क्रांतिकारी रूप में वे ही सबसे पहले लाये। क्रांतिकारिणी धनिया उनकी अपूर्व सृष्टि है। वह जीवन के संघर्ष में यद्यपि होरी के कंधे से कंधा भिड़ाकर आगे बढ़ी, पर न कभी वह उससे दबी और न डरी। वरन् जब-जब होरी परंपरा के नाम पर उसे प्रताड़ित कर अन्याय और असत्य के पक्ष में दण्ड देता है या लड़ता है, वह सम्पूर्ण शक्ति से उसका विरोध करती है। वह ममत्व से पूर्ण माँ और प्रेममयी पत्नी ही नहीं वरन् विकारों से, छल, कपट और अन्याय से टक्कर लेने वाली, अपनी स्वतन्त्र मान्यताओं पर चलने वाली मुक्त नारी भी है। होरी ही नहीं पटेश्वरी, झिंगुरी सिंह, भोला, दारोगा यहाँ तक कि सारा गांव उससे डरता है और थर्राता है। यह वह तेज है जो सदियों की दबन और घुटन के बाद प्रकट हुआ है। नारी की इस शक्ति

का परिचय अपने ढंग से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बाणभट्ट की आत्मकथा में दिया है। लेकिन उनकी नारी क्रांतिकारिणी नहीं। वह पुरुष की सत्ता से स्वतन्त्र रूप मे चित्रित नही हुई है। इनकी निउनिया कोई बड़े पद पर असीन नही। पर न उस पर समाज का अंकुश है और न जाति का भय। वह पाप, कलुष और नारी पर किये गये अत्याचार के विरुद्ध स्वयं क्रांति करती है और बाणभट्ट को भी उसी ओर उन्मुख करती है। द्विवेदीजी ने एक प्रकार से अपनी इस कृति के द्वारा नये साहित्यकारों को संकेत दिया है कि नारी विवश, अशक्त और पुरुष के हाथ खिलौना नही है। वह पुरुष भोग्या भी नही, संसार के संकीर्ण प्रयोजनों के निकट कल-संचालित कार्य करने वाली पुतली भी नही, जो माता और गृहिणी के विशेष ढांचे में ढली जीवन प्रवाह में आगे बढ़े। उसका तो स्वतन्त्र और मुक्त-अस्तित्व है। ये संकेत बड़े महत्त्वपूर्ण हैं जो प्रेमचद और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दिये। ये संकेत नारी के मान-सम्मान के मूल्याकन के नये मापदण्ड स्थापित करने का निर्देश देते हैं। अब नारी घर मे समानाधिकारिणी, बाहर सहयोगिनी और सहभोगिनी है। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, मर्यादा है और गरिमा है।

इन निर्देशों को समझ लेने के बाद ही साहित्य और जीवन में नारी के मुक्त-अस्तित्व के सही अर्थ समझे जा सकते हैं। पर क्या नया साहित्यकार नारी के मुक्त, पर गरिमामय रूप को चित्रित कर रहा है? इस दिशा में हमें निराशा ही अधिक मिलती है। मुक्त नारी के चित्रण के नाम पर मनमानी हो रही है। द्वितीय महायुद्ध और विशेषत: स्वतन्त्रता के बाद महानगरों पर आधारित साहित्य में तेज़ी से बढ़ते हुए औद्योगीकरण, शहरी परिस्थितियों के मध्य आर्थिक-संघर्ष में जूझती आत्म-निर्भर, आत्म-निर्णायक और पुरुष के टक्कर में खड़ी होने वाली नारी के सही रूप का चित्रण करने मे नया साहित्यकार सफल नही है। पुरुष के साथ उसके बदलते हुए संबधों का अधिकांश साहित्य मे सही मूल्यांकन नही हो रहा है। दो आत्मनिर्भर इकाइयों की समान मैत्री

की प्रचलित प्रवृत्ति नहीं बनी है। क्या संप्रति साहित्य में घर से बाहर निकलने, काम करने वाली नारी का इस भद्दे रूप में चित्रण उसे डरा धमका कर घर की प्राचीरो मे पुन: बंदिनी बना देने का प्रयास नहीं है ? क्या देश-विदेश की दृष्टि में नारी को गिराया नहीं जा रहा ? क्या यह विदेशी साहित्य की अंधी नकल नहीं है ? क्या यही सदियों से मुक्त यथार्थ परिवेश के मध्य मुक्त नारी की सही तस्वीर है ? कदापि नहीं। नारी का घर से निकलना ही अभिशाप हो गया है। अधिकारों के प्रति उसकी जागरूकता, सामाजिक प्रतिष्ठा पुरुष को सह्य नहीं। नारी व्यक्तित्व विकास करे, घर से बाहर भी काम करे, यह न सह सकने के कारण जीवन में और फिर साहित्य मे उसके साथ अश्लील धारणाएँ जोड़कर उसका चित्रण किया जा रहा है। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिये कि मुक्त नारी के व्यक्तित्व का सौन्दर्य उसकी गरिमा में है। आत्मसम्मान और गरिमाहीन नारी का क्या कभी कोई व्यक्तित्व हो सकता है ? यह गरिमा ही उसके व्यक्तित्व को आकर्षण और शक्ति देती है। ऐसी गरिमा से सम्पन्न नारी ही समाज को स्वस्थ, सुन्दर, सम्यक्, उन्नत और संस्कृत बना सकती है। ममत्व और नारीत्व के गुणों के साथ-साथ मानवीयता और गरिमा ही उसे अनन्त काल तक शक्ति का साधन, प्रेरणा का स्रोत और आकर्षण का केन्द्र बनाये रख सकते हैं।

प्राचीन और वर्तमान की तुलना कर जब हम नारी का अध्ययन करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि उसका कभी मुक्त मानवी रूप में मूल्याकन हुआ ही नहीं। कभी तो उसे ऊँचाई के उस छोर पर पहुँचा दिया गया जहाँ वह अपनी अलौकिकता, सुकुमारता और दिव्यता के आवरण मे आवेष्टित हो देवी बनकर रह गई और आदर्श के नाम पर न जाने कितनी प्रतारणा और अन्याय को सहती रही। दूसरी ओर उसे इतना तुच्छ बनाकर गिराया गया कि वह वासना का साधन मात्र बन कर गृह-प्राचीरो की बंदिनी बनने योग्य ही समझी गई। और अब सब तरह से समर्थ होते हुए भी उसकी चारित्रिक गरिमा को नष्ट किया जा रहा है।

अतः नारी के अपमानपूर्ण चित्रण के तिरस्कार और प्रतिकार के लिये यह आवश्यक था कि नारी के चारित्रिक मूल्यांकन का सही माप सामने लाया जाये। इसी आवश्यकता की पूर्ति में कुछ मध्यकालीन और कुछ आधुनिक पात्र चुनकर मैंने उनके चरित्र का पुनर्मूल्यांकन किया है। प्रथम खण्ड में तुलसी की प्रेरक रत्नावली के चरित्र का वह गौरवमय पहलू स्पष्ट हुआ है जिसकी प्रेरणा से तुलसी महापंडित बन सके। कौसल्या, कैकेयी, सीता, नागमती, उर्मिला, श्रद्धा और यशोधरा मानवी रूप में विश्लेषित हुई हैं और उनके चारित्र की महानता को स्पष्ट करते हुए उन तथ्यों की ओर भी संकेत किया गया है जो समाज की तरफ से अन्याय रूप में उन पर आरोपित किये गये। राधा के स्वरूप का परम्परागत विकास दिखा कर उसके स्वरूप का आधुनिक दृष्टि से भी विश्लेषण किया है। धनिया, चम्पा और निउनिया उन नारीपात्रों के रूप में चित्रित हुई हैं जो नारी कल्पना के बँधे-बँधाये ढाँचों को तोड़ती हैं और नारी समाज के लिये नई मान्यताएँ स्थापित करती हैं। मृणाल उन प्रताड़ित नारियों का प्रतीक है जो समाज के विकारों के कारण आत्मपीड़न सहती हैं और ऊँचा उठना चाहते हुए भी उठ नहीं पातीं।

दोनों प्रकार के इन नारीपात्रों के माध्यम से मैंने यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि नारी चाहे उच्च पद पर आसीन देवी हो चाहे समाज की बुराइयों से जूझने वाली साधारण नारी, वह पहले मानवी है, उसकी अपनी मान्यताएँ हैं, जीवन को देखने का अपना ढंग है और इन सबसे बढ़कर उसमें नारी-सुलभ सम्मान या गरिमा है। आज जो भी पात्र साहित्य में चित्रित हों या साहित्य में चित्रित जिन पात्रों का भी मूल्यांकन किया जाये, यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये।

मेरी भी इन सभी पात्रों के विश्लेषण में यही धारणा और दृष्टि रही है। यदि प्रबुद्ध पाठक इस दृष्टिकोण को समझ सके तो मेरा कृतित्व सार्थक होगा।

— माधुरी दुबे

प्रथम भाग



मध्यकालीन साहित्य के नारीपात्र

तुलसी की प्रेरक

रत्नावली



अस्थि-चर्म-मय देह मम तामें जैसी प्रीति ।
तैसी जो श्रीराम महँ होति न तौ भवभीति ।।



एक

तुलसी की प्रतिभा उनकी पत्नी रत्नावली की प्रताड़ना से उद्भूत हुई थी इसलिये विश्व उसका ऋणी है। तुलसी का काव्य मानव-जीवन-सागर से उठी हुई उच्चतम तरंग है, वह व्यक्ति की नहीं समस्त मानव-जाति के भावों, विचारों और संकल्पों की कथा है, श्रेष्ठ धारणाओं की परिणति है जिसमें मानव-जीवन के चरम विकास की संभावनाएँ निहित हैं। तुलसी मनुष्य की महिमा के गायक थे, इसीलिये उन्होंने दुःख, दुर्बलता, दैन्य और सभी प्रकार के दोषों के निवारण के लिये उसी का गुणगान किया है। उनके साहित्य में मनुष्य को निम्न स्तर से, हीन स्वार्थ से प्रयोजनातीतता की ओर ले जाने की, मानवता में, हृदय की विशालता में, वसुधा के बन्धुत्व में सराबोर कर देने की शक्ति है। उन्होंने अपने समस्त काव्य एवं 'मानस-समाज' में चित्रित रामराज्य के स्वप्न के माध्यम से मानव-समाज का वह स्वर्णिम पक्ष उद्घाटित किया है जहाँ मनुष्य आत्मबल से संचरित होता है, उसका स्वाभाविक

कर्म जाग्रत रहता है और समाज का प्रत्येक प्राणी राम के शील-स्वभाव पर मुग्ध होकर सात्विकता की स्थिति को प्राप्त करता है। लेकिन कभी किसी ने यह सोचा कि परिस्थितियों की जटिलता मे, मनुष्य की अन्तःप्रकृति मे मनुष्यता जगाने और पशुसुलभ धरातल से ऊँचा उठाये रखने की प्रतिभा एवं सामर्थ्य उन्हे किसने दी ? वह कौनसा रसमय स्रोत था जो उमड़-उमड़ कर उनके मानस को रससिक्त करते हुए मधुर और आनन्दमय बना सका ? वह कौनसी शक्ति थी जिसके उन्मादमय आनन्द मे उनके जीवन के समस्त सुख-दु ख, हर्ष-विषाद, उत्थान-पतन और यहाँ तक कि जन्म-मरण लीन हो गये ? यह प्रबल अन्तःप्रेरणा और संवेदना प्रेम की थी जो उनके मन मे रत्नावली को देखकर जागी और प्रतारणा के प्रहार से राम की ओर उन्मुख हो गई। भावनाओं का मधुर स्रोत जो रत्ना को देखकर उमड़ा था वह बाह्य स्थूल सीमाओं को वेध कर रुपातीत रूप-सौन्दर्य को देख सका और उनके समस्त सासारिक संबध इस आन्तरिक, आत्मिक, नैतिक सबध मे लीन हो गये। उनकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक व्यापार इस एक ध्येय की ओर अभिमुख हो गये –

'नाते सभी राम से मानियत'

तुलसी के लिये राम ही माता, पिता, गुरु, बन्धु, सगी, सखा, सुत, स्वामी, सनेही हो गये।

'राम हैं मातु, पिता, गुरु, बन्धु औ सगी सखा सुत स्वामी सनेही।'

पर क्यो ? यह सर्वविदित तथ्य है कि प्रेम एक प्रचण्ड शक्ति है, करुणा एक कोमल वृत्ति। प्रेम का यह अदम्य स्रोत जब करुणा मे निष्णात होकर निकलता है तो अमृत बन जाता है। यही अमृतस्रोत था जो रत्नावली के वाक्यवाणो से बिध कर तुलसी के मानस में फूटा, और फिर नित नूतन रस और अक्षय आनन्द के गीत इस रस में निखर कर निकलने लगे –

कहेउँ न कछु करि जुगति बिसेषी।
यह सब मैं निज नयनन्हि देखी।।

इस दिव्य अनुभूति ने उन्हें दिव्य दृष्टि दी, दिव्य शक्ति दी इसीलिये सार उस नारी का, रत्ना का ऋणी है जिसने सफलता तुलसी े बाँधने में और सार्थकता उन्हें मुक्त करने में समझी थी। आज मय की अनेक पर्तों ने इस ऋषितुल्य कवि के जीवन के अनेक तथ्यों ो ढक कर भ्रमों का अम्बार लगा दिया है। यहाँ तक कि महाकवि ी जन्मतिथि और जन्मस्थान और पिता और कुल के संबंध में भी ो मत हैं। कुछ निश्चित पता नहीं चलता। अध्यात्मवादी भारत के न महामानवों को न भौतिक यश की लिप्सा थी और न अन्य कोई यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा। उनके विषय में जो कुछ हमने जाना है वह न्तर्साक्ष्य, वहिर्साक्ष्य और किंवदन्तियों के आधार पर। उसमें भी इतना तभेद और असंगति है कि पाठक उलझन में पड़ जाता है और पता ी नहीं चलता कि पतनगर्त भारत को सांस्कृतिक संवल देने वाले, मानव-धर्म को जगाने वाले इस महामानव के जीवन ने किन रूपों में कैसे-कैसे मोड़ लिये होंगे। डॉ० श्यामसुन्दर दास और डॉ० पीताम्वर दत्त वड़थ्वाल ने मूल गोसाईं चरित के आधार पर एक सुव्यवस्थित जीवनक्रम प्रस्तुत करने का प्रयास किया था, लेकिन युग की संदेह-भरी नजरों ने उसे अप्रामाणिक ठहरा दिया है। फिर 'मर्यादा' पत्रिका द्वारा १९१२ में रघुवरदासजी ने तुलसी चरित नामक ग्रन्थ की सूचना दी तो इसे डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अप्रामाणिक ठहरा दिया। वहिर्साक्ष्य के आधारभूत प्रमुख ग्रन्थ नाभादास का 'भक्तमाल', 'भक्तमाल' पर प्रियदास की टीका, और गोसाईं गोकुल नाथ द्वारा लिखित 'दो सौ वैष्णवन की वार्ता' है। पर इन सबके आधार पर भी इसकी चर्चा तो खूब हुई कि तुलसी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे या सरयूपारीण, राजापुर में रहते थे या सोरों में या शूकरखेत में? लेकिन उस महान् नारी के जीवन की प्रामाणिक घटनाओं का संकेत न तो वहिर्साक्ष्य से पूर्णरूप में मिला और न तुलसी की स्वयं की रचनाओं से। वहिर्साक्ष्य वाले ग्रन्थों में तो फिर भी प्रियदास ने भक्तमाल की अपनी टीका में

तुलसी चरित और गोसाईं चरित में, लोक-साहित्य में प्रचलित उन प्रसिद्ध पंक्तियों को लिखा है, जो प्रेम विभोर तुलसी से रत्ना ने उनके ससुराल तक पीछे-पीछे पहुँच जाने पर कही थीं। कौन जाने इन पंक्तियों में कितना ऐतिहासिक सत्य है, पर लोक-साहित्य में तुलसी, राम और सीता की प्रियता का जितना विस्तार है उतना ही रत्ना और तुलसी के अटूट प्रेम का और तुलसी के प्रति कही गई रत्ना की इस उक्ति का भी –

'लाज न आवत आपको दौरे आयहु साथ'

तुलसी से बिना कहे रत्नावली मातृगृह चली जाती हैं। तब एकाकी तुलसी का मन भी घुमड़-घुमड़ कर बरसने वाले बादलों की तरह रत्ना के विरह में उमड़ने लगता है। एकाकी मन की पीड़ा की इसी अनुभूति का सार्थक पर्यवसान तो सीता विरह से उत्पन्न राम की पीड़ा में हुआ है।

घन घमंड नभ गरजत घोरा।
प्रियाहीन डरपत मन मोरा।।

यही पीड़ा है जो राम की विरह उक्तियों के मर्म में समायी हुई है।

कहेउ राम वियोग तव सीता। मो कहुँ सकल भयो विपरीता।।
नवतरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम निसि ससि भानू।।
कुवलय विपिन कुंतवन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा।।

तुलसी को भी रत्ना के विरह में सब कुछ विपरीत लगा होगा। एक क्षण भी रत्नावली का विरह नहीं सह सकने वाले तुलसी की सत्ता को जब रत्नावली भी नकार के मातृगृह चली गई तो रत्ना के प्रति वे क्रोधित नहीं हुए। प्रेम की प्रचण्डता ने, भावनाओं के आवेग ने उन्हें और भी उत्तेजित कर दिया। वे रुके नहीं। अदम्य प्रेम और स्फूर्ति के आवेश से व्याकुल हो वर्षाधिक्य से उमड़ती-घुमड़ती नदी ! न नाव न अन्य कोई सहारा ! फिर भी वे पार गये। अटूट शक्ति के सामने प्रकृति की असंख्य बाधाएँ साधन बन गईं। लेकिन जब पहुँचे तो क्या रत्ना ने

इस दिव्य अनुभूति ने उन्हें दिव्य दृष्टि दी, दिव्य शक्ति दी इसीलिये संसार उस नारी का, रत्ना का ऋणी है जिसने सफलता तुलसी को बाँधने में और सार्थकता उन्हें मुक्त करने में समझी थी। आज समय की अनेक पर्तों ने इस ऋषितुल्य कवि के जीवन के अनेक तथ्यों को ढक कर भ्रमों का अम्बार लगा दिया है। यहाँ तक कि महाकवि की जन्मतिथि और जन्मस्थान और पिता और कुल के संबंध में भी दो मत हैं। कुछ निश्चित पता नहीं चलता। अध्यात्मवादी भारत के इन महामानवों को न भौतिक यश की लिप्सा थी और न अन्य कोई व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा। उनके विषय में जो कुछ हमने जाना है वह अन्तर्साक्ष्य, वहिर्साक्ष्य और किंवदन्तियों के आधार पर। उसमें भी इतना मतभेद और असंगति है कि पाठक उलझन में पड़ जाता है और पता ही नहीं चलता कि पतनगर्त भारत को सांस्कृतिक संवल देने वाले, मानव-धर्म को जगाने वाले इस महामानव के जीवन ने किन रूपों में कैसे-कैसे मोड़ लिये होंगे। डॉ० श्यामसुन्दर दास और डॉ० पीताम्बर दत्त वड़थ्वाल ने मूल गोसाईं चरित के आधार पर एक सुव्यवस्थित जीवनक्रम प्रस्तुत करने का प्रयास किया था, लेकिन युग की संदेह-भरी नज़रों ने उसे अप्रामाणिक ठहरा दिया है। फिर 'मर्यादा' पत्रिका द्वारा १९१२ में रघुवरदासजी ने तुलसी चरित नामक ग्रन्थ की सूचना दी तो इसे डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अप्रामाणिक ठहरा दिया। वहिर्साक्ष्य के आधारभूत प्रमुख ग्रन्थ नाभादास का 'भक्तमाल', 'भक्त-माल' पर प्रियदास की टीका, और गोसाईं गोकुल नाथ द्वारा लिखित 'दो सौ वैष्णवन की वार्ता' है। पर इन सबके आधार पर भी इसकी चर्चा तो खूब हुई कि तुलसी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे या सरयूपारीण, राजापुर में रहते थे या सोरों में या शूकरखेत में? लेकिन उस महान् नारी के जीवन की प्रामाणिक घटनाओं का संकेत न तो वहिर्साक्ष्य से पूर्णरूप में मिला और न तुलसी की स्वयं की रचनाओं से। वहिर्साक्ष्य वाले ग्रन्थों में तो फिर भी प्रियदास ने भक्तमाल की अपनी टीका में

तुलसी चरित और गोसाईं चरित में, लोक-साहित्य में प्रचलित उन प्रसिद्ध पंक्तियों को लिखा है, जो प्रेम विभोर तुलसी से रत्ना ने उनके ससुराल तक पीछे-पीछे पहुँच जाने पर कही थी। कौन जाने इन पंक्तियों में कितना ऐतिहासिक सत्य है, पर लोक-साहित्य में तुलसी, राम और सीता की प्रियता का जितना विस्तार है उतना ही रत्ना और तुलसी के अटूट प्रेम का और तुलसी के प्रति कही गई रत्ना की इस उक्ति का भी –

'लाज न आवत आपको दौरे आयहु साथ'

तुलसी से बिना कहे रत्नावली मातृगृह चली जाती हैं। तब एकाकी तुलसी का मन भी घुमड-घुमड़ कर बरसने वाले बादलों की तरह रत्ना के विरह में उमड़ने लगता है। एकाकी मन की पीड़ा की इसी अनुभूति का सार्थक पर्यवसान तो सीता विरह से उत्पन्न राम की पीड़ा में हुआ है।

घन घमंड नभ गरजत घोरा।
प्रियाहीन डरपत मन मोरा॥

यही पीड़ा है जो राम की विरह उक्तियों के मर्म में समायी हुई है।

कहेउ राम वियोग तव सीता। मो कहुँ सकल भयो बिपरीता॥
नवतरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम निसि ससि भानू॥
कुवलय विपिन कुंतवन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥

तुलसी को भी रत्ना के विरह में सब कुछ विपरीत लगा होगा। एक क्षण भी रत्नावली का विरह नहीं सह सकने वाले तुलसी की सत्ता को जब रत्नावली भी नकार के मातृगृह चली गई तो रत्ना के प्रति वे क्रोधित नहीं हुए। प्रेम की प्रचण्डता ने, भावनाओं के आवेग ने उन्हें और भी उत्तेजित कर दिया। वे रुके नहीं। अदम्य प्रेम और स्फूर्ति के आवेश से व्याकुल हो वर्षाधिक्य से उमड़ती-घुमड़ती नदी! न नाव न अन्य कोई सहारा! फिर भी वे पार गये। अटूट शक्ति के सामने प्रकृति की असंख्य बाधाएँ साधन बन गईं। लेकिन जब पहुँचे तो क्या रत्ना ने

उनके प्रेम के इस वासनामय स्वरूप को स्वीकारा ? नहीं ! वह मर्यादामयी जानती थी कि भारत में प्रेम त्याग और तपस्या में ही निखर कर उज्ज्वल बनता रहा है। प्रेम की इस मर्यादा से प्रेरित रत्ना अपनी सफलता से सुखी नहीं हुई। उसने धिक्कारा—

लाज न आवत आपको दौरि आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥

रत्ना ने तुलसी जैसे दुर्लभ पुरुष-रत्न की सार्थकता को पहिचाना था। 'रत्नावली चरित्र' नामक पुस्तक से ज्ञात होता है कि रत्नावली विदुषी थी। 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य' और वर्षफल पोथियों में तो इतना तक कह दिया गया है कि रत्नावली स्वयं कवयित्री थी। कौन जाने कितना सच है इसमें, पर इतना अवश्य सच है कि रत्ना ने तुलसी जैसे संवेदनशील पुरुष-रत्न के संवेगों को मोह की सीमाओं में बाँध के नहीं रखा। उस भाव-विह्वल क्षण में, अपने प्रति जाग्रत तुलसी के मोह से उद्भूत सफलता के आकर्षण और अभिमान को उसने कैसे दबाया होगा, यह कोई नहीं जानता, लेकिन सबको मालूम है कि महान् लक्ष्य और मर्यादामय स्वप्न की सार्थकता के लिये तुलसी के मोह को रामभक्ति में बदल देने में ही इस महिमामयी ने अपने जीवन की सार्थकता समझी थी। उसने महापण्डित के इस मोह पर क्रोध प्रकट किया। पर उसे तो त्याग करना था। उसका अन्तर पुकार-पुकार कर उससे कह रहा था कि यदि आज चूक हुई तो विश्व महान् उपलब्धि से वंचित रह जायेगा। उसके मन में पति को युग-युग तक अमर कर देने की साध जागी। उसने प्रतारणा से तुलसी के मन में कवित्व जगाकर, भारत को अनंतकाल तक सांस्कृतिक संबल देने का महाभाव जगाया। कोमल रत्ना कठोर हो गई। उसने अनुभव किया कि उसके इस क्षणभंगुर मोह में पड़कर पण्डित धर्म भूल रहे हैं। शंका और भय से उत्तेजित हो, उमड़ती हुई भावनाओं के वेग को रोककर भी उसने कहा—

अस्थि-चर्म-मय देह मम तामें जैसी प्रीति ।
तैसी जो श्रीराम महँ होति न तौ भवभीति ।।

प्रताड़ित प्रेम के परिणामस्वरूप तुलसी लज्जा से गड़ गये । उनके अन्तरपट के द्वार खुल गये ।

अबलों नसानी अब न नसैहों ।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी जागे पुनि न डसैहो ।।

इसलिये 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' में तुलसी ने स्थान-स्थान पर अपने मन को इस मूढ़ता के लिये जी भर के धिक्कारा है, जिसने उन्हें स्त्री के प्रेम में उन्मत्त बनाकर राममक्ति से विमुख कर दिया था ।

'ऐसी मूढ़ता या मन की'

जो यह भूल गया कि–

'बारे में ललात-बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हों चारफलि चार ही चनक कौ ।'

उन कृपासिंधु "नररूपहरि" गुरु के वचन भी भूल गया जिन्होंने राममक्ति के लिये उन्हें ज्ञान दिया था । उन्होंने अपने मूढ़ मन को धिक्कारा जो शूकरखेत में गुर से सुनी हुई कथा को भूल गया ।

मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत ।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ।।

हे मन ! तू यह भी भूल गया कि यह जग मृगमरीचिका है । तुलसी ने इसीलिये बार-बार 'विनयपत्रिका' के सुन्दर गीतों में अपनी ग्लानि को ढाला है ।

'मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो'

और उन्होंने गुसाईं राम से प्रार्थना की–

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी ।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंज-हारी ।।

इस चोट ने उन्हें अनुभव करा दिया कि राम ही सत्य हैं । इसीलिये उनकी शरण में जाना चाहिये । उनके मन का रावण पराजित –

राम विजयी। इसी सात्विक भाव से रघुवीर गुसाईं के दरबार में उन्होंने उस कलियुग के विरुद्ध विनयपत्रिका भेजी, जिसने उन्हें भटका दिया था। इसीलिये उन्होंने रामराज्य का स्वप्न देखा कि उनकी तरह विश्व नहीं भटके। यहाँ तक कि उस महिमामयी नारी के महिमामय रूप को भी नहीं भूले। यही कारण है कि सीता जैसी स्वाभिमानिनी नारी का चित्र वे प्रस्तुत कर सके। तुलसी के द्वारा मनुजत्व प्रतिष्ठित हुआ। विश्व संबल पा सका। लेकिन विश्व को यह मिला तब जब रत्ना ने तुलसी को विरह पीड़ा दी और स्वयं सही। 'दोहावली' के एक दोहे से विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि तुलसी रत्ना से एक बार फिर मिले थे और रत्ना ने उनकी साधना में साथ देना चाहा था।

खरिया खरी कपूर लौं उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलिकै अचल करहु अनुराग॥

लेकिन तुलसी फिर नहीं रुके थे। उन वस्तुओं को, झोले को भी वहीं छोड़ दिया था। तुलसी ने एक-एक करके राम द्वारा उन सभी राक्षसों का संहार कराया है जो रावण को सहायता देते हैं और मनोराज्य में राम के राजत्व में बाधा डालते हैं। तुलसी केशव की इस विचित्र-सृष्टि का रहस्य समझ गये थे कि इस आत्म को पहिचानने की शक्ति उन्हें दी थी रत्ना की बात ने – यदि वह न होती तो यह एक बड़ा प्रश्न-चिह्न है। इसीलिये विश्व उस गौरवमयी का ऋणी है।

• •

मर्यादामयी माँ

कौसल्या



"राम मातु दस-नृप मन भानी"



दो

रामचरितमानस की कौसल्या को दीनों पर दया करने वाले कृपालु प्रभु की जननी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।[1] आदिकवि की तरह ही[2]

---

[1] तुलसीदास, रामचरितमानस (गीताप्रेस), बालकांड, पृष्ठ २०१ : छंद १

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी ।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी ।।
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी ।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी ।।

[2] श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे बालकाण्डे अष्टादशः सर्गः, पृष्ठ ६८।११

विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम् ।
लोहिताक्षं महाबाहुं रक्तोष्ठं दुन्दुभिस्वनम् ।।

[वे विष्णुरूप हविष्य या खीर के आधे भाग से प्रकट हुए थे। कौसल्या के महाभाग पुत्र श्रीराम इक्ष्वाकुकुल का आनन्द बढ़ाने वाले थे। उनके नेत्रों में कुछ-कुछ लालिमा थी। उनके ओठ लाल, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और स्वर दुन्दुभि के शब्द के समान गम्भीर था।]

तुलसी ने रामजन्म से पहले कौसल्या का दिव्यज्ञान से मण्डित होना दिखाया है। यही कारण है कि वे समस्त महाकाव्य में दिव्य पुरुष की जननी के अनुरूप आचरण करती रही हैं।

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद,

सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद।[१] खेल रहे हैं। प्रेम में मग्न कौसल्या रात और दिन का बीतना नहीं जानती। दिनरात राम के बालचरित्रों का गान करती हैं। सेवक-सेविकाओं के होते हुए भी स्वयं उन्हें स्नान कराती है, शृंगार करती हैं और पालने में झुलाती हैं। भोजन करते समय बालक्रीड़ा में मग्न राम नहीं आते तो स्वयं हठपूर्वक पकड़ने जाती हैं। इसी प्रकार राजमहलों से अयोध्या की गलियों तक बालक्रीडा का विकास करते, कौसल्या को सुख देते राम बड़े होते हैं। विश्वामित्र के साथ जाने से पहले दशरथ तो दुखी होते हैं, राम के जाते समय मूर्च्छित हो जाते हैं; लेकिन माता से वे सहज ही आज्ञा पा लेते हैं। उनके विकास में कौसल्या कभी बाधा नहीं बनी। मुनि का भय हरने के लिये प्रसन्न होकर दोनों भाई चले जाते हैं और तब लौटते हैं जब धनुषभंग का श्रेय उन्हें प्राप्त होता है।

राम सीता का वरण करते है तथा अन्य भाइयों का भी विवाह हो जाता है। कौसल्या स्नेह आनन्द से शिथिल हुई जारही हैं, राम तथा पुत्रवधू सीता की अगवानी की तैयारी करती हैं। अर्घ्य पावड़े देती हुई स्वयं महलों में ले जाती है। प्रेम विभोर होकर बार-बार पूछती हैं, "हे सुकुमार पुत्रो! तुमने मार्ग में भयंकर ताडका को किस प्रकार मारा, दुष्ट मारीच और सुबाहु को सहायको सहित कैसे मारा?" और फिर बार-बार बलैया लेती हैं कि मुनिकृपा से ही ईश्वर ने बलाएँ टाल दी। अपने भाग्य पर फूली नहीं समाती, उनके पुत्र ने कच्छप पीठ, वज्र और पर्वत से भी कठोर शिवजी के धनुष को राजाओं के समाज में तोड़ दिया। आज विश्वविजय के यश को प्राप्त कर जानकी को व्याह लाये

[१] तुलसीदास, रामचरितमानस, पृष्ठ २०७, दोहा १९८

हैं। वे अपना जगत् में जन्म लेना सफल मानती हैं। पुत्र को विना देखे जो दिन बीते हैं उनको ब्रह्मा गिनती में न लावें।

राम विवाह के बाद कुछ समय ही बीता है कि राजा दशरथ राम का राजतिलक करने का निश्चय करते हैं। पुत्र का राजतिलक होगा यह जानकर माता के मन में असीम उत्साह है। राम जब उनसे मिलने जाते हैं तो उन्हें गोद में बैठाकर हृदय से लगा लेती हैं, उन पर से गहने-कपड़े न्योछावर कर दान देती हैं। तभी राम उनसे कहते हैं कि पिताजी ने मुझे वन का राज दिया है। हे माता! तुम प्रसन्न मन आज्ञा दो जिससे मेरी वनयात्रा में आनन्दमंगल हो। कौसल्या के हृदय में यह बात बाण सी चुभती है। वे ऐसे ही सूख गईं जैसे बरसात के पानी से जवासा सूख जाता है। नेत्रों में जल भर आता है, शरीर काँपता है, फिर भी वे दिव्य पुरुष की मर्यादामयी जननी हैं, धीरज नहीं छोड़तीं। वाल्मीकि रामायण में इसी स्थान पर कौसल्या विलाप करती हुई कभी सौतों के तिरस्कार को न सह सकने की बात कहती हैं[१] तो कभी अपने व्रत इत्यादि अनुष्ठान निष्फल हो जाने पर दुःख प्रकट करती हैं।[२] मानस में वे पूछती हैं, "हे तात! तुम सदा पिता के प्यारे रहे हो, तुम्हें किस अपराध

---

[१] श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे अयोध्याकाण्डे विंशः सर्गः, पृष्ठ २४६।४६
तदक्षयं महद्दुःखं नोत्सहे सहितुं चिरात्।
विप्रकारं सपत्नीनामेवं जीर्णापि राघव॥
[राघव! अब इस बुढ़ापे में इस तरह सौतों का तिरस्कार और उससे होने वाले महान् अक्षय दुःख को मैं अधिक काल तक नहीं सह सकती।]

[२] श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे अयोध्याकाण्डे विंशः सर्गः, पृष्ठ २४६।५२
इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि।
तपश्च तप्तं यदपत्यकाम्यया सुनिष्फलं बीजमिवोप्तमूषरे॥
[सबसे अधिक दुःख की बात तो यह है कि पुत्र के सुख के लिये मेरे द्वारा किये गये व्रत, दान और संयम सब व्यर्थ हो गये। मैंने संतान की हित-कामना से जो तप किया है, वह भी ऊसर में बोये हुए बीज की भांति निष्फल हो गया।]

के कारण वन जाने की आज्ञा हुई है।" मंत्रीपुत्र से कारण जानने पर धर्म-बुद्धि और स्नेह दोनो उनके मन में आविर्भूत होते हैं। यदि वे पुत्र को रोकती तो धर्म जाता और भाइयों में विरोध होता। यदि जाने को कहती हैं तो हानि होती है। अन्त में धर्म की विजय होती है। उनके लिये राम भरत दोनों समान हैं।

कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी। संकट सोच बिबस भइ रानी॥
बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी। राम भरतु दोउ सुत सम जानी॥[1]

राम के लोक-कार्य एवं कर्त्तव्यपालन में उनका स्नेह कभी बाधक नही बनता। वे पिता की आज्ञापालन को ही शिरोमणि धर्म समझती हैं। इसीलिये कहती हैं –

तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयुस सब धरमक टीका॥[2]

यह मातृहृदय के धैर्य की परीक्षा की कठिन घड़ी है। इतने दिन विश्वामित्र के साथ रह कर पुत्र घर आये, राजतिलक होता, माँ आनन्दित होती। आनन्द के बदले में कैकेयी ने दिया पुत्र वनवास। फिर भी माता कौसल्या अपार धीरज के साथ सब कुछ सहन करती हैं। *विशालहृदया माता, भरत को भी राम के समान ही मानती हैं* और कहती हैं कि महाराज ने राज्य देने को कहकर वन दे दिया उसका उन्हें लेशमात्र भी दुःख नही है। लेकिन अपने दुःख से भी अधिक उन्हें भरत, महाराज और प्रजा के दुख का ध्यान आता है।

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥[3]

वे कहती हैं, "हे पुत्र! यदि केवल पिता की आज्ञा है तो माता को बड़ी जानकर वन मत जाओ किन्तु यदि पिता माता दोनों ने वन जाने को कहा हो तो वन तुम्हारे लिये सैकड़ों अयोध्याओ के समान है।" इस

---

[1] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४२४, चौपाई ३
[2] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४२४, चौपाई ४
[3] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४२४, दोहा ५५

प्रकार जिस कैकेयी ने उनके लिये इतना बुरा सोचा, उसी की आज्ञा मानने का उपदेश वे राम को देती हैं। जबकि वाल्मीकि रामायण में लक्ष्मण द्वारा राजा के लिये कही गई रोषपूर्ण बातें सुनने के बाद कौसल्या कहती हैं कि बेटा तुमने लक्ष्मण की कही हुई सारी बातें सुन लीं। मेरी सौत की अधर्मयुक्त बात सुनकर मुझ शोक से संतप्त हुई माता को छोड़ कर तुम्हें यहाँ से नहीं जाना चाहिये।

न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम्।
विहाय शोकसंतप्तां गन्तुमर्हसि मामितः ॥[१]

वे कहती हैं, "अंत में तो राजा के लिये वनवास ही उचित होता है, लेकिन तुम्हारी अवस्था कम है यह देख हृदय में दुःख होता है।" साथ चलने की बात कह कर वे राम को रोकना नहीं चाहतीं। केवल इतना ही कहती हैं कि मेरी सुध भूल न जाना और आशीर्वाद देती हैं कि देव और पितर तुम्हारी वैसे ही रक्षा करेंगे जैसे पलकें आँखों की रक्षा करती हैं। वनवास की अवधि जल है, प्रियजन और कुटुम्बी मछली हैं। तुम दया की खान और धर्म की धुरी को धारण करने वाले हो। इसलिये नगर भर को अनाथ करके सुखपूर्वक वन जाओ। दुःख हृदय में रुकता नहीं अतः फिर विलाप करती हैं कि आज मेरे सब पुण्य समाप्त हो गये, यह कह वे राम के चरणों से लिपट रो पड़ती हैं। उनके संताप और विलाप के लिये तुलसी इतना ही कह सके—

दारुन दुसह दाहु उर ब्यापा। बरनि न जाहिं बिलाप कलापा ॥
राम उठाइ मातु उर लाई। कहि मृदु बचन बहुरि समुझाई ॥[२]

धैर्य का जो बाँध अभी तक वे बाँधे हुए थीं वह सीता के वनगमन की बात सुनकर टूट जाता है। सुकुमारी कोमल पुत्रवधू जिसे उन्होंने

---

[१] श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे अयोध्याकांडे एकविंशः सर्गः, पृ. २४८।२२
[मेरी सौत की कही हुई अधर्मयुक्त बात सुनकर मुझ शोक से संतप्त हुई माता को छोड़ कर तुम्हें यहाँ से नहीं जाना चाहिये।]

[२] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४२६, चौपाई ४

कल्पलता के समान स्नेहरूपी जल से सींचा, आँखों की पुतली बनाकर प्रेम बढ़ाया। कभी पलंग पीठ से नीचे उतरने नही दिया जो गोद और हिंडोला छोड़ कर कठोर धरती पर नही चली। जिससे कभी दीपक की बत्ती तक हटाने को नही कहा उसके वन जाने की बात सुन कौसल्या का हृदय काँप उठा। वे राम से कहती हैं कि जिस प्रकार हंसिनी केवल देवसरोवर मे ही विचरण करती है, तलैया में नहीं। सीता भी वन मे रहने योग्य नही है फिर भी 'हे राम! जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसी ही मैं इसे शिक्षा दूं'। राम के समझाने पर भी जब सीता उनका अनुसरण करना चाहती हैं और राम उन्हे आज्ञा दे देते हैं तो कौसल्या भी अपने दुर्भाग्य से समझौता कर पुत्र और पुत्रवधू को पुनः देख पाने का शुभ आशीर्वाद दे विवश भाव से उन्हे वनगमन की आज्ञा देकर इतनी व्याकुल हो जाती हैं कि उनका विलाप शब्दों में बांधा नही जा सकता।

लखि सनेह कातरि महतारी। बचनु न आव बिकल भइ भारी।।
राम प्रबोधु कीन्ह बिधि नाना। समय सनेहु न जाइ बखाना।।[1]

जब सुमन्त्र राम सीता को सरजू पार छोड़ कर लौटते हैं तो राजा के प्राण कण्ठ मे आजाते हैं।

प्रान कंठगत भयउ भुआलू। मनि बिहीन जिमि ब्याकुल ब्यालू।।
इन्द्री सकल बिकल भइँ भारी। जनु सर सरसिज बनु बिनु बारी।।[2]

यहाँ भी कौसल्याजी राजा को बहुत दुखी देख धीरज बँधाती हैं लेकिन वे मन में जान जाती है कि सूर्यकुल का सूर्य अस्त हो चला है और मन कड़ा कर राजा से कहती हैं –

नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू।।
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू।।[3]

---

[1] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४३६, चौपाई १
[2] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड पृष्ठ ५१७, चौपाई १
[3] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ५१७, चौपाई -

आप ही अयोध्यारूपी जहाज के खेवनहार हैं। आप धीरज रखेंगे तो सब पार पहुँच जायेंगे नहीं तो सारा परिवार डूब जायेगा। यदि मेरी विनती हृदय में धारण कीजियेगा तो श्रीराम, लक्ष्मण व सीता फिर आ मिलेंगे। कौसल्या के वचन सुन राजा को शीतलता और शान्ति तो मिली लेकिन वे राम के वियोग में प्राण नहीं रख सके। रामचरित-मानस की कौसल्या ने सामान्य नारियों से भिन्न अपार धैर्य, साहस और दृढ़ता का परिचय दिया है और उस दुःखपूर्ण स्थिति में अयोध्या और राज परिवार को धैर्य बँधाने और सँभालने में तत्पर रहते हुए अनुपमेय नारीपद पाया है।

पति-मृत्यु ने उनकी श्री और शोभा छीन ली है। मानो कल्प-लता को पाला मार गया हो, लेकिन एक क्षण के लिये भी उनके मन में भरत के लिये कलुप नहीं आया और न कैकेयी को ही उन्होंने अप-शब्द कहे। जबकि आदिकवि की कौसल्या ने विलाप करते हुए दशरथ को भी प्रारम्भ में उपालम्भ दिया है और कहा है आपने यह बड़ा ही निर्दयतापूर्ण कर्म किया है कि विना कुछ सोच-विचार किये मेरे वान्धवों को (कैकेयी के कहने से) निकाल दिया है, जिसके कारण वे सुख भोगने योग्य होने पर भी दीन होकर वन में दौड़ रहे हैं।[1] साथ ही दशरथ के मरण समय कैकेयी की भर्त्सना करने में भी वे नहीं चूकीं। दुराचारिणी क्रूर कैकेयी ! ले तेरी कामना सफल हुई अब राजा को भी त्याग कर एकाग्र चित्त हो अपना अकण्टक राज भोग।[2]

---

[1] श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे अयोध्याकाण्डे एकषष्ठितमः सर्गः, पृष्ठ ३५३।१०
यत् त्वया करुणं कर्म व्यापोह्य मम वान्धवाः।
निरस्ताः परिधावन्ति सुखार्हाः कृपणा वने॥

[2] श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे अयोध्याकांडे पट्षष्टितमः सर्गः, पृ. ३६८।३
सकामा भव कैकेयि भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम्।
त्यक्त्वा राजानमेकाग्रा नृशंसे दुष्टचारिणि॥

'मानस' की कौसल्या में अपार संयम है। वे ननिहाल से लौटे भरत को देख दौड़ पड़ती हैं, लेकिन चक्कर आने से मूर्च्छित हो जाती हैं। भरत अनेक प्रकार से स्वयं को और कैकेयी को कोसते हैं और पश्चात्ताप करते हैं। कौसल्या सँभलकर उठती हैं तो भरत शत्रुघ्न को छाती से लगा लेती हैं ठीक उसी तरह जैसे वे राम को प्यार करती हैं। उनका हृदय शोक और स्नेह से भरपूर है। पुत्रों को धैर्य बँधाती हैं कि काल और कर्म की गति अमिट जानकर हृदय में हानि और ग्लानि मिटा दो। यह जानते हुए कि कैकेयी के दुष्कर्म से पुत्र वन गये हैं, पति मर गये हैं, वे धैर्य रखती हैं। यह उनकी सहनशीलता और संयम की चरम दशा है। वे भरत से बोलीं हे तात ! किसी का भी दोष नहीं है, विधाता ही वाम हो गया है।

काहुहि दोसु देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता॥
जो एतेहुँ दुख मोहि जिआवा। अजहुँ को जानइ का तेहि भावा॥[1]

वे कहती हैं जीना मरना तो केवल राजा ने जाना। राम के समान पुत्र की माता होकर भी मेरा हृदय सैकड़ों वज्रों के समान कठोर है। भरतजी के विलाप करने पर धैर्य बँधाती हैं और कहती हैं कि तुम रामचन्द्र के प्रतिकूल कभी नहीं हो सकते। चन्द्रमा चाहे विष चुआए, पाला आग बरसाये, ज्ञान हो जाने पर भी मोह न मिटे लेकिन तुम्हें राम के विपरीत समझने वाले कभी सुख और शुभगति नहीं पा सकते।

राम के दर्शन की अभिलाषा और भरत के द्वारा बाधा उपस्थित करने के कारण वे मनी भी नहीं हो पातीं। भरत से राजतिलक के लिये जब गुरु मंत्री इत्यादि अनुरोध करते हैं तो कौसल्या भी निष्कपट भाव से यही कहती हैं कि गुरु की आज्ञा पथ्यस्वरूप है उसका अवश्य पालन करो। कौसल्या के स्नेह और सरलता ने भरत के हृदय को

[1] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ५२७, चौपाई ४

द्रवीभूत कर दिया है।[१] भरत यही कहते हैं वात्सल्य और मातृश्रद्धा बिंब-प्रतिबिंब भाव हैं। राम की माता तो सरल हृदय हैं। मुझ पर उनका विशेष प्रेम है। अतः मेरी दीनता देखकर स्नेहवश ही ऐसे कह रही हैं। वन में राम मिलन के लिये जाते समय कौसल्या के ही कहने से पैदल चलते-चलते भरत थक जाने पर रथ पर चढ़े। वन में पहुँच कर भी कौसल्या सबके प्रति विनम्र और कोमल व्यवहार करती हैं। जब सीता की माता सुनयना कहती हैं कि विधाता की बुद्धि टेढ़ी है, दूध के फेन जैसी कोमल वस्तु को वज्र की टांकी से फोड़ रहा है। अर्थात् राम, लक्ष्मण और जानकी जैसे कोमल और निर्दोषों पर विपत्ति पर विपत्ति ढा रहा है।

सब सिय राम प्रीति कि सि मूरति। जनु करुना बहु वेष बिसूरति॥
सीय मातु कह बिधि बुधि बाँकी। जो पय फेनु फोर पवि टाँकी॥[२]

सुनयना से कौसल्या कहती हैं कि किसी को भी दोष न देकर कर्म को ही दोष देना चाहिये। कर्म की गति कठिन है, उसे विधाता ही जानता है जो शुभ और अशुभ सभी फलों का देने वाला है।

कौसल्या कह दोसु न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू॥
कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥[३]

आदिकवि की माता कौसल्या का हृदय वन में सुकुमार सीता के कष्टों को देखकर पुकार उठा था –

मुखं ते प्रेक्ष्य मां शोको दहत्यग्निरिवाश्रयम्।
भृशं मनसि वैदेहि व्यसनारणिसम्भवः॥[४]

---

[१] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ५३७, चौपाई १
कौसल्या धरि धीरजु कहई। पूत पथ्य गुरु आयसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ बिषादु काल गति जानी॥

[२] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ६३६, चौपाई ४

[३] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ६४०, चौपाई २

[४] श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे अयोध्याकाण्डे पञ्चाधिकशततमः सर्गः, पृ० ४५७।२६

यदि जनकजी को यह बात जँचे तो वे राम से कहें कि लक्ष्मण को घर रख लिया जाये और भरत वन जायें। यद्यपि दुःख में और स्नेह में विवेक कम काम करता है लेकिन कौसल्या विवेकपूर्ण रहीं क्योंकि उन्हें अपने चारों पुत्र और पुत्रवधू गंगाजी के जल के समान पवित्र लगते हैं। अन्त में वे सुनयना से कहती हैं कि हमारे या तो ईश्वर सहायक हैं अथवा मिथलेश्वर सहायता कर सकते हैं।[1] इस प्रकार कौसल्या ने वन की दुःखपूर्ण स्थिति में न्याय, नम्रता, विनय और विवेक से पूर्ण वचन कहे जो उन जैसी मर्यादामयी जननी ही कह सकती थीं। वे दुःख और सुख को समान समझती थीं इसलिये जब भी विचलित होने के अवसर आये उन्होंने स्वयं तो धैर्य रखा ही दूसरों को भी धैर्य बँधाया।

राम मातु दुखु सुखु सम जानी। कहि गुन राम प्रबोधीं रानी॥
एक कहहिं रघुबीर बड़ाई। एक सराहत भरत भलाई॥[2]

यही समरसता राम वनवास की अवधि में उनका संबल बनी रही। होनी से समझौता कर, न उन्होंने विलाप किया और न किसी को दोष दिया। अन्त में उनकी तपस्या सफल हुई। राम अवधि पूरी कर, देवताओं का कार्य पूर्ण कर अयोध्या लौटे तब भरत से यह समाचार पा वे हर्ष विभोर हो गईं। मन परमानन्द में मग्न हो गया। उनके पुण्य फले। फिर राम का राज्यतिलक हुआ और उन्होंने बहुत समय तक रामराज्य का असीम सुख भोगा।

---

[1] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ६४२, दोहा २८४
'हमरें तो अब ईस गति कै मिथिलेस सहाय।'

[2] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ६६७, चौपाई ४

करुण कोमल त्यागमयी

सीता



जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ ।
सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ ।।



तीन

नारी के जिस करुण कोमल त्यागमय रूप को देख आदिकवि का हृदय द्रवीभूत हो उठा था उसी पावन पवित्र रूप को तुलसी ने रामचरित मानस तथा गीतावली इत्यादि काव्य-ग्रन्थों में अपनी प्रतिभा से पुनः सँवारकर सीता के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसलिए जो लोग मानस की केवल कुछ पंक्तियों के आधार पर यह कहते हैं कि महाकवि तुलसी ने नारी को श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखा, उनका दृष्टिकोण नितान्त भ्रमपूर्ण है। वे अपने इस दृष्टिकोण की पुष्टि में स्थान-स्थान पर तुलसी द्वारा कथित नारी सम्बन्धी उद्‌गार भी प्रस्तुत करते हैं। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि महाकवि तुलसी हृदय-पारखी थे, उनकी दृष्टि मानव-हृदय-प्रदेश की गहराइयों तक पहुँची थी इसलिए जहाँ उन्होंने सीता के रूप में आदर्शमयी अनुपम नारी की सृष्टि की वहाँ अपने महाकाव्य में स्थान-स्थान पर नारी के दोषों की ओर संकेत करना भी वे नहीं भूले। कहीं उन्होंने उसे 'ढोर गँवार', 'शूद्र' और

'पशुओं' की श्रेणी में रखा तो कहीं उसे 'सकल कपट अघ अवगुन खानी' कहा। यहाँ तक कि देवी अनुसूया के मुख से भी यह कहलवाया है कि 'सहज अपावन नारि'। यदि सतर्क दृष्टि से 'मानस' का मन्थन किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि नारी के प्रति भर्त्सना के ऐसे शब्द परिस्थिति और प्रसंग के अनुसार ही कहे गये हैं। महाकाव्य रामचरितमानस में किसी स्थिति-विशेष में, किसी नारी-विशेष के लिए, विशेष पात्र द्वारा कहे गये वाक्य मानस के समस्त नारी समाज पर लागू नहीं किये जा सकते और न यह माना जा सकता है कि तुलसीदास ने समस्त नारी समाज की निंदा की है। रामचरितमानस में तो सभी प्रकार के नारी पात्र हैं इनमें से कौसल्या, सुमित्रा, अनुसूया, इत्यादि आदर्श नारियों के चरित्र का सृजन कर उन्होंने नारी वर्ग के प्रति अपने श्रद्धा सुमन अर्पित किये है और सीता के चरित्र में उनकी यह श्रद्धा पूर्ण पराकाष्ठा पर पहुँची है।

तुलसी ने भारतीय संस्कृति के अनुरूप सीता को राम से अलग करके नहीं देखा है तभी तो जगत् को राममय नहीं कह कर 'सीताराममय' कहा है। यदि राम परम-ब्रह्म पुरुष है तो सीता परम-पुरुष राम की शक्ति। जब रावण के अत्याचारों से व्याकुल होकर देवताओं ने प्रभु से भू-भार हटाने की प्रार्थना की तब उन्होंने[1] (राम ने) आश्वासन देते हुए कहा, "परम शक्ति समेत अवतरिहउँ।" इसीलिए तुलसी ने वाल्मीकिजी के मुख से एक स्थान पर राम की स्तुति करते हुए कहलवाया कि आप वेद-मर्यादा के रक्षक हैं और जानकीजी माया हैं।

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपा निधान की॥[2]

---

[1] रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृष्ठ १६७, चौपाई ३

[2] रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४६१, छंद

अतः "मानस" के जिस समाज के कर्णधार राम हैं उसके विकास में सीता ने कहीं गतिरोध उत्पन्न नहीं किया, अन्त तक त्याग और विराग से उसके संरक्षण में सहयोगिनी बनी रहीं। प्रारम्भ से ही तुलसी ने सीता के चरित्र को आदर्श की रेखाओं से गढ़ कर अलौकिकता के रंगों का स्पर्श दिया है। इसीलिए शैशव से ही सीता में स्त्रियोचित मर्यादा है, गौरव है और गरिमा है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में सीता के रूप, गुण, कार्य वर्णन में तुलसी ने भी श्रद्धापूर्ण संयत कल्पना का प्रयोग किया है। वे शक्तिस्वरूपा नारी भी हैं और लज्जामयी सुकुमारी भी। पुष्पवाटिका में सीता जब राम का प्रथम दर्शन करती हैं तब वे प्रेम विभोर हो जाती हैं इस अवस्था का वर्णन करते हुए तुलसी उनकी पुरातन प्रीति के प्रसंग को देना नहीं भूले। 'तासु वचन अति सियहि सुहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने॥'[१] 'चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखइ न कोई॥'[२] सीता की यह प्रीति उच्छृंखल नहीं है। वह तो नारद के वचन का स्मरण करके ही सीता के मन में आविर्भूत हुई है। इसलिए सीता, राम के रूप में 'निज निधि'— को पहचान कर हर्षित होती हैं। सीता का पूर्वानुराग संयत और मर्यादापूर्ण है। मन ही मन राम को अपना वर बनाने की इच्छा रखती हुई भी पिता की प्रतिज्ञा को स्मरण कर दुखी होती हैं- 'सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा।'[३] अन्ततः पिता का 'पन' पूर होता है और सीता भी मनवांछित फल पाती हैं। विवाह उत्सव समाप्त होते ही अभिषेक की तैयारी होती है और कैकेयी द्वारा वह विफल क दिया जाता है। फिर भी सीता के मन में किंचित् मात्र भी क्लेश औ कलुष दिखाई नहीं देता। वे वनगमन का समाचार सुन सास के प

[१] रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृष्ठ २३७, चौपाई ४

[२] रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृष्ठ २३७, चौपाई ४

[३] रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृष्ठ २४१, चौपाई २

पति-अनुमरण की आज्ञा लेने जाती हैं। माम कौशल्या सुकुमारी पुत्र-वधू को वन नहीं भेजना चाहती हैं तो राम माँ का रुख पहचान कर सीता को वन के भयंकर दुःख, दुर्गम पथ, हिंसक जानवरों के भय और रहन-सहन की कठिनाइयों की दुहाई देकर रोकना चाहते हैं। मनुष्य को खा जाने वाले राक्षसों का भय दिखाते हैं लेकिन ये सब बातें सीता को किंचित् मात्र भी विचलित नहीं करतीं, उन्हें तो ये ऐसी ही दुखदाई लगीं जैसे चकवी को शरद ऋतु की चाँदनी रात।[1] पतिव्रता सीता सास से विनय करती है कि पति वियोग के समान जगत् में कोई दुःख नहीं है और राम से कहती है कि आपके बिना स्वर्ग भी मेरे लिये नरक के समान है। पति बिना सारे नाते सारा समाज शोक-समाज है। भोग रोग के समान, गहने भाररूप और संसार यम-यातना के समान है। हे नाथ जैसे–

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥[2]

अतः आपके साथ पर्णकुटी ही स्वर्ग बन जायेगी। उदार हृदय वनदेवी, वनदेवता सास-ससुर के समान मेरी सार-सँभार करेंगे।[3] कंदमूल फल ही अमृत के समान आहार होंगे। वन, पहाड़, अयोध्या के सैकड़ों राज-महलों के समान होंगे। वन के सब दुःख मिलकर भी वियोग दुःख के सामने लवलेश मात्र हैं।[4] आप मुझे सुकुमारी कहते हैं, क्या आप वन योग्य हैं? यदि आप अपनी सेवा हेतु मुझे वन नहीं ले गये तो मेरे प्राण नहीं रहेंगे।[5]

'राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान।'

---

[1] रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४३२, चौपाई १

[2] रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४३३, चौपाई ४

[3] रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४३३, चौपाई १

[4] रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४३४, चौपाई ३

[5] रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४३४, दोहा ६६

इस प्रकार सास और पति से आज्ञा प्राप्त कर सीता वन में पति-सेवा के लिए उनकी अनुगामिनी बनीं। राम वनगमन के पश्चात् जैसे अग्नि में कंचन निखरता है वैसे ही वन के मध्य दुःख और कठिनाइयों के बीच सीता का चरित्र निखरता गया है। सुकुमारी सीता जिन्होंने कभी 'पलंग पीठ' तज कर 'कठोर अवनि' पर पाँव नहीं रखा था, जिन्हें 'जीवन मूरि' की तरह सँभाल कर रखा गया था, जिन्होंने कभी 'दिये की बत्ती' तक नहीं उचकाई वे बिना किसी संकोच के आदर्श पतिव्रता और साध्वी नारी की तरह पति परमेश्वर राम के पदचिह्नों का अनुसरण करती हैं।[१] 'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं।।'[२] राम के प्रेम में वन का कंटकमय मार्ग भी सुमनमय बन जाता है। प्रेम के प्रभाव से ही उन्होंने जंगल में ही मंगल माना है। उन्हें वहाँ अयोध्या के राजसी वैभव से भी अधिक आनन्द मिलता है।

सिय मन राम चरण अनुरागा। अवध सहस सम वन प्रिय लागा।।
नाह नेह नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहत दिवस जिमि कोकी।।

बान्धवों से दूर वन के एकाकी पथ में भी तुलसी की सीता मर्यादामयी है। पथ की ग्रामीण स्त्रियाँ राम की ओर लक्ष्य करके उनका परिचय पूछती हैं कि ये तुम्हारे कौन हैं, इस पर सीता सलज्ज भाव से राम की ओर देख धरती की ओर देखने लगती हैं।

सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी।।
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी।।[3]

---

[१] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४२८, चौपाई ३
पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा।।
जिअन मूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ।।

[२] रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४३३, चौपाई ३

[3] रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४८२, चौपाई २

भारतीय मर्यादा के अनुसार राम को सुने शब्दों में पति कहने में सीता को संकोच था और दूसरी ओर भोली-भाली ग्रामीण वधुओं की वे उपेक्षा भी नहीं कर सकती थीं। इसलिये सलज्ज भाव से धरती की ओर झुकी हुई उनकी मौन दृष्टि ने ही राम का परिचय दिया।

सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी। बोली मधुर वचन पिकबयनी॥[1]
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥[2]
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि॥[3]

तुलसी ने सीता का राम के प्रति अनुराग, आकर्षण और व्यवहार सभी में आदर्श का पालन किया है। यहाँ तक कि प्रेमभावना के प्रदर्शन में भी संयम और मर्यादा के दर्शन होते हैं। यदि सीता और राम के इस प्रकार के पारस्परिक व्यवहार में स्वच्छन्द चेष्टाएँ दिखाई जातीं तो सीता के चरित्र का सौंदर्य नहीं निखर पाता, लेकिन तुलसी ने कौशल से उनकी मर्यादा की रक्षा तो की ही साथ ही उनके चरित्र को और भी आकर्षक बना दिया। उनके चरित्र और शील का निखार हमारे सामने इससे भी अधिक कष्टजन्य परिस्थितियों में तब प्रस्तुत किया गया है जब रावण उनका अपहरण करता है। अशोक वाटिका में अपहरण की गई सीता के दर्शन होते हैं। उनकी आत्मशक्ति अपराजेय है, राम के प्रति उनकी श्रद्धा अटूट है। ऐसी दुःखजन्य अवस्था में भी वे इसी शक्ति और श्रद्धा के सहारे राम के ध्यान में मग्न रहती हैं।

जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाय चले श्रीराम।
सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम॥[4]

---

[1] रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४८२, चौपाई २
[2] रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४८२, चौपाई ३
[3] रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४८२, चौपाई ४
[4] रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ७३१, दोहा २६

वे मन क्रम वचन से राम की अनुगामिनी रह कर उनकी सेवा को ही अपना चरम कर्त्तव्य समझती रहीं।

जेहि विधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइकर श्री सेवा विधि जानइ।[1]

अशोकवाटिका में हनुमान जब सीता की खोज करने जाते हैं तो सीता उनके सामने उसी मर्यादा के साथ वियोगजन्य दु:ख की व्यञ्जना करती हैं जिस मर्यादा के साथ माता पुत्र के सामने दु:ख व्यक्त कर सकती है। सबसे पहले अनुज सहित राम की कुशल पूछती हैं—

अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी। अनुज सहित सुख भवन खरारी।।
कोमलचित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई।।[2]

वियोग की अवस्था में भारतीय आदर्श नारियाँ प्रिय के कुशलमंगल के लिये ही व्याकुल रहती हैं अतः सीता ने भी उसी आदर्श और मर्यादा के अनुकूल राम और लक्ष्मण की कुशलक्षेम के लिये जिज्ञासा प्रकट की है और पूछा है कि वे राम के दर्शन कब कर सकेंगी।

कबहुँ नयन मम सीतल ताता।
होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता।।

विरहावस्था में भी सीता ने सांस्कृतिक परम्पराओं को विस्मृत नहीं किया है। वे अपने आत्मबल के सहारे ही बलशाली रावण को निर्भय होकर शक्तिहीन करती रहीं। रावण पर-पुरुष था इसलिये उन्होंने उससे बात भी की तो तिनके की आड़ देकर। रावण उन्हें न भयभीत कर सका और न उसके प्रलोभन उन्हें डिगा सके। सीता को अपने पातिव्रत्य, तेज और दीन हितकारी राम पर पूरा भरोसा था। इसी शक्ति के संबल से उन्होंने दुष्ट रावण का निरन्तर तिरस्कार किया।

---

[1] तुलसीदास, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृष्ठ १०४९, चौपाई ४

[2] रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, पृष्ठ ८०९, चौपाई २

तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही ॥
सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करहि बिकासा ॥
अस मन समुझु कहति जानकी। खल सुधि नहिं रघुबीर बान की ॥
सठ सूनें हरि आनेहि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही ॥[1]

अग्निपरीक्षा से लेकर अयोध्या गमन तक सीता के चरित्र में इसी आदर्श की एकरूपता दिखाई देती है। लंका में जब विभीषण सीता को लाते हैं तो राम के 'रुख' को जानकर वे अग्निपरीक्षा देती हैं।[2] सीता को यह परीक्षा किंचित्‌मात्र भी नहीं खलती। वे हर्ष के साथ अग्नि को चन्दन सी शीतल समझ उसमें प्रवेश करती हैं[3] और उनकी विजय होती है। स्वयं अग्निदेव द्वारा सीता राम को समर्पित की जाती हैं जैसे सागर ने लक्ष्मी ईश्वर को समर्पित की थी —

धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग विदित जो।
जिमि छीरसागर इन्दिरा रामहि समर्पी आनि सो ॥[4]

तुलसी ने रामचरितमानस में सीता का चरित्र इतना ही चित्रित किया है कि सीता सहित राम अवध पहुँचे, राम का अभिषेक हुआ और सीता भी निरन्तर पति अनुकूल रहकर उनके चरणों की और उनकी गृहस्थी की सेवा करती रहीं।

पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभा खानि सुसील बिनीता ॥
जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई ॥

---

[1] रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, पृष्ठ ८०३, ८०४, चौपाई ३, ४, ५

[2] रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, पृष्ठ ९९४, चौपाई ३
देखि राम रुख लछिमन धाए। पावक प्रगटि काठ बहु लाए ॥

[3] रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, पृष्ठ ९९४, छंद १
श्रीखंड सम पावक प्रबेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली।
जय कोसलेस महेस बंदित चरन रति अति निर्मली।

[4] रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, पृष्ठ ९९५, छंद २

जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। विपुल सदा सेवा विधि गुनी ।।
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई ।।

विना किसी मद के कौसल्या इत्यादि की सेवा करने वाली सीताजी वन्दनीय हैं। तुलसी ने शिवजी के द्वारा कहलाया है, "हे उमा! जगज्जननी रमा (सीताजी) ब्रह्मा आदि देवताओं से वंदित और सदा अनिन्दित (सर्वगुणसम्पन्न) हैं।" आगे की कथा तुलसी ने केवल यह कह कर समाप्त कर दी कि –

दुइ सुत सुंदर सीताँ जाए। लव कुस वेद पुरानन्ह गाए ।।
दोउ विजई विनई गुन मंदिर। हरि प्रतिविव मनहुँ अति सुन्दर ।।[1]

इस प्रकार राम द्वारा सीता को वन भेजे जाने का जो करुण प्रसंग आदिकवि ने अपने आँसुओं के करुण जल से लिखा उसे तुलसी ने मानस में नहीं दिया।

वाल्मीकि रामायण में राम अधिक मानवीय और सीता अधिक करुणामयी हैं। जव लोकनायक राम लोक के द्वारा आपत्ति उठाये जाने पर निंदा के भय से समाज को मर्यादा के नाम पर पराये घर में रही सीता को राजपरिवार में स्थान न दे वन भेजने का निश्चय करते हैं –

अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुपर्षभाः।
अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम् ।।[2]

तव सीता इस अपमान और अवहेलना की स्थिति में भी संयम और सहनशीलता का परिचय देती हैं और मानस की सीता की तुलना में वाल्मीकि रामायण की सीता का यह रूप अधिक हृदयग्राही है जव वे लक्ष्मण से कहती हैं कि हे सुमित्रानन्दन! तुम वही करो जैसी महाराज ने आज्ञा दी है।

---

[1] रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृष्ठ १०५०, चौपाई ३, ४

[2] श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे उत्तरकाण्डे पंचचत्वारिंशः सर्गः, पृष्ठ १५७ ।१४

यथाज्ञं कुरु सौमित्रे त्यज्य मां दुःखमागिनीम् ।[1]

क्योंकि स्त्री के लिये तो पति ही देवता है, पति ही बन्धु है और पति ही गुरु है।

'पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः ।'[2]

तुलसी ने सीता के इस करुण रूप का चित्रण 'गीतावली' में किया है। उत्तरकाण्ड में रामराज्य की प्रशसा के साथ जानकी का वाल्मीकि आश्रम मे भेजना, लवकुश *का जन्म इत्यादि का प्रसंग भी दिया है* और इसमें तुलसी ने सीता का स्वरूप हमारे सम्मुख रख अपने इष्ट के चरित्र के साथ सीता की भावनाओं पर भी प्रकाश डाला है।[3] सीता तपस्विनी की भाँति तन मन से राम का ही स्मरण करती हुई उनकी वंश-रक्षा और सम्मान के लिये दुःखपूर्ण स्थिति मे भी जीवित रहती हैं। इस दुःखपूर्ण दिनचर्या में भी एक दिन भी उनकी वाणी मे तिरस्कार नही आया।

आदिकवि ने दुःख की चरम स्थिति में सीता राम का पुनर्मिलन भी दिखाया है। राम उन्हे सम्मान देने को प्रस्तुत हैं। लेकिन सीता आदर्शवादी नारी की तरह आत्मसम्मान की रक्षा के लिये सर्वसहा वसुन्धरा की गोद मे विलीन हो जाती हैं।

---

[1] श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे उत्तरकाण्डे अष्टचत्वारिंशः सर्गः, पृ० १५७५।६

[2] श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे उत्तरकाण्डे अष्टचत्वारिंशः सर्गः, पृ० १५७६।१७

[3] तुलसीदास, गीतावली, उत्तरकाण्ड, पृष्ठ ४३४

तापसी कहि कहा पठवति नृपनि को मनुहारि ।
बहुरि तिहि बिधि आइ कहिहै साधु कोउ हितकारि ।।
लषनलाल कृपाल निपटहिं, डारिबी न बिसारि ।
पालबी सब तापसनि ज्यों राजधरम बिचारि ।।
सुनत सीता-बचन मोचत सकल लोचन-बारि ।
बालमीकि न सके तुलसी सो सनेह सँभारि ।।

'तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशन्तीं रसातलम् ।'[1]

सीताचरित्र की कहानी यहीं समाप्त होती है लेकिन उनका आदर्श चरित्र एवं गुण अनेक रूपों में भारतीय नारी-जीवन में चेतना और प्रेरणा देते रहे हैं और देते रहेंगे। भारतीय संस्कृति की चिरन्तनता के साथ उनके चरित्र की अमरता भी अक्षुण्ण रहेगी।



[1] श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे उत्तरकाण्डे सप्तनवतितमः सर्गः,
पृ० १६५८।२०

स्वाभिमानिनी

सीता



"पतिव्रता सीता को अग्निपरीक्षा देनी पड़ी यह क्या उसका दुर्भाग्य नहीं था



चार

सीता के व्यक्तित्व की ज्योति सदियों से समय की धुंध को चीरत जग में जगमगा रही है । क्या इसलिये कि उनमें देवीत्व आरोपित है नहीं । वे ऐसी स्वाभिमानिनी संघर्षमयी साहसी नारी हैं जिन्होंने कटुत जीवन की चुनौती को स्वीकार करते हुए नारीत्व का ऐसा आदर्श रख जो युग-युग तक उत्पीड़ित नारी को संबल देता रहेगा । शैशव से मर्यादामयी सीता जो राम के प्रति 'प्रीति पुरातन' को जानती हैं फि भी सखी को आगे कर राम के प्रथम दर्शन करती हैं ।

तासु वचन अति सियहि सुहाने । दरस लागि लोचन अकुलाने ।।

चली अग्र करि प्रिय सखि सोई । प्रीति पुरातन लखै न कोई ।।

नारद के वचन स्मरण कर पवित्र प्रीति की ओर उन्मुख होकर पिता की प्रतिज्ञा नहीं भूलतीं, पिता का प्रण स्मरण कर उनके मन क्षोभ उत्पन्न होता है तो गौरी की कृपा से मनोवांछित फल पाती लेकिन सत्य और असत्य का, ज्ञान और अज्ञान का संघर्ष सदा चलत

है। सीता के जीवन मे भी सास कैकेयी के वेष में असत्य उनके सत्य की परीक्षा लेने आता है। विना अपराध ही राज्याभिषेक के समय कैकेयी के दिये हुए वचनों की पूर्ति हेतु राम को वनगमन की आज्ञा मिलती है। सुकुमारी सीता कैकेयी की इस कुमन्त्रणा से किञ्चित् भी कलुष और क्लेश मन में नहीं लातीं। वे सहर्ष वन-जीवन के संघर्ष का सामना करने के लिये तत्पर हो जाती हैं। कौसल्या सुकुमारी सीता को वन नही भेजना चाहती। राम भी माँ का रुख पहचान कर उन्हे वन के भयकर दुःख, दुर्गम पथ, हिंसक जानवरों का भय और रहन-सहन की कठिनाइयो की दुहाई देकर रोकना चाहते हैं लेकिन पतिव्रता सीता नही रुकना चाहतीं और सास से विनय करती है कि पति-वियोग के समान जगत् मे कोई दुःख नही है और राम से कहती हैं कि आपके बिना स्वर्ग भी मेरे लिये नर्क के समान है, पति के बिना सारे नाते, सारा समाज शोक-समाज है। भोग रोग के समान, गहने भार रूप और संसार यमयातना के समान है। हे नाथ ! जैसे –

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥

अत. आपके साथ पर्णकुटी भी स्वर्ग बन जायेगी। उदारहृदय वनदेवी वनदेवता सास-ससुर के समान मेरी सार-सभार करेंगे। कंद फल मूल ही अमृत के समान आहार होगे। वन पहाड़ अयोध्या के सैकडों राज-महलो के समान होंगे। वन के सब दु.ख मिलकर भी वियोग दुःख के सामने लवलेश मात्र है। आप मुझे सुकुमारी कहते हैं, क्या आप वन योग्य हैं ? और इस प्रकार पति के साथ वन विपत्ति में सहभागी बनने का दृढ़ निश्चय प्रकट करते हुए कहती हैं कि यदि आप अपनी सेवा हेतु मुझे वन नही ले गये तो मेरे प्राण नही रहेगे।

'राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान।'

पर क्या वन मे न वनदेवी और न वनदेवताओ ने उनकी सार समार की ? वे षड्यंत्रों का शिकार हुईं। दुष्ट शूर्पणखा के कुकर्म के परिणामस्वरूप नाक कान कटने के बाद जब राम ने खरदूषण और त्रिशिरा को भी

मार दिया तो वह रावण के पास पहुँची। रावण क्रोध में भरा मारीच के पास गया और कहा कि तुम कपट मृग बनकर छल करो, जिससे मैं राम की स्त्री को हर लाऊँ। मारीच ने बहुत समझाया और अन्त में रावण की प्रभुता में रहने के परिणामस्वरूप उसे स्वर्ण मृग बनकर जाना ही पड़ा। भोली सीता को सत्य का रूप धारण किये कपटी और झूठे हरिण के पीछे छिपे दुर्भाग्यस्वरूप मारीच और रावण के षड्यंत्र का पता न चला। उन्होंने हरिण को देखते ही उसके चर्म को लेने का आग्रह किया। राम भी प्रिया की इच्छा-पूर्ति के लिये चल दिये। राम का बाण लगते ही पहले लक्ष्मण और फिर राम का नाम लेते हुए वह राक्षस गिर पड़ा। तो लक्ष्मण के नाम की ध्वनि सुन सीता पति-विपत्ति की आशंका से व्याकुल हो गई। पतिव्रता सीता के लिये यह स्वाभाविक भी था। यद्यपि राम लक्ष्मण को उनकी रखवाली के लिये छोड़ गये थे फिर भी सीता ने राम को संकटग्रस्त जान लक्ष्मण को राम के पास जाने का आग्रह किया। जब लक्ष्मण ने राम की आज्ञा का स्मरण दिलाकर जाना नहीं चाहा तो लक्ष्मण को कठोर वचन भी कहे जिसका दुःख उन्हें जीवन भर सालता रहा। लेकिन यह सब पतिप्रेम के आधिक्य का परिणाम था। अन्ततः लक्ष्मण सीता के चारों ओर अभिमंत्रित अग्निरेखा खींचकर राम की खोज में चले गये। इसी समय झूठा और कपटी रावण आश्रम को सूना देखकर संन्यासी का भेष बनाकर चोर की तरह सीता के पास आया।

सून बीच दसकन्धर देखा। आवा निकट जती कें बेखा॥

वह दशमुख कुत्ते की तरह इधर-उधर देखता हुआ चोरी के लिए चला। उसका तेज, बल-बुद्धि सब क्षीण हो गए।

सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥

और कपटी ने संन्यासी का झूठा भेष बनाकर छल और चतुराई से सीता से भीख माँगी।

करि अनेक विधि छल चतुराई । मांगेउ भीख दसानन जाई ।।

संवेदनशील सीता ने मानवीय धर्म निभाया । भूखे को भोजन देना और अतिथि का सत्कार करना अपना धर्म समझा । कपटी यतिवेशधारी रावण को कंद मूल फल देने चाहे लेकिन कपटी रावण ने भीख नही ली । विपत्ति में बुद्धि भी साथ नही देती । रावण के यह कहने पर कि मैं बँधी हुई भीख नही लेता सीता उसकी चाल नही समझी और अभिमंत्रित रेखा लांघकर उसे भीख देने निकल आई । होम करते हाथ जला, ये भला करने चली थीं, हुआ बुरा । पाप-समूह को नाश करने वाली, पवित्र सीता ने रावण का कपट नही जाना । वे छली गईं । रावण ने अनेक तरह की कथा सुनाकर भय और प्रेम भी दिखाया । इतने पर भी सीता अपने चरित्रबल पर अडिग रही । उन्होंने रावण से कहा कि तूने यह दुष्ट समान वचन कहे हैं ।

कह सीता सुनु जती गोसाईं । बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं ।

तब रावण ने असली रूप दिखाया तो सीता ने उसकी चरित्रहीनता के लिये भर्त्सना की । हे राक्षस ! तू काल के वश हो गया है । क्या कउवा गरुड़ की बराबरी कर सकता है और नदी समुद्र की बराबरी कर सकती है ? असत्य और अज्ञान के प्रतीक रावण पर कुछ भी प्रभाव नही पड़ा, शरीर बल मे अधिक होने के कारण अस्थायी रूप से वह सीताहरण करने में समर्थ हुआ । उसने क्रोध कर सीता को रथ पर बैठा लिया और घबराता हुआ आकाशमार्ग से उन्हे ले गया । सीता जड़ और चेतन को दुखी कर देने वाला विलाप करती रही लेकिन रावण नही पसीजा और अकारण ही उन्हे विपत्ति और दु:ख का सामना करना पड़ा । जटायु भी उन्हे रावण से छुड़ा नही सका । उनकी इस विपत्ति का कारण स्वयं उनकी कोई त्रुटि नही थी अपितु विपरीत परिस्थितियों और उनके प्रति की गई असत्यवेशी छली कपटी रावण की वंचना थी । इसके बाद सीता को जीवन में सुख कम और दुःख ही अधिक मिला लेकिन उनके शील और चरित्र का निखा

अग्निपरीक्षास्वरूप परिस्थितियों में कुंदन की तरह दमकता हमारे सामने आया है। अशोकवाटिका में सत्यमयी सीता की शक्ति अपराजेय है, राम के प्रति उनकी श्रद्धा अटूट है। ऐसी दुःखजन्य स्थिति में भी वे इसी शक्ति के सहारे राम के ध्यान में मग्न रहती हैं—

जेहि विधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम।
सो छवि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम॥

ऐसी पतिव्रता सीता को अग्निपरीक्षा देनी पड़ी यह क्या उसका दुर्भाग्य नहीं था? जिन राम के नेत्र उनके शशिमुख के लिये पुष्पवाटिका में चकोर हो गये थे, जो सीता उन्हें रूपराशि गुणशील से शोभायमान लगी थी, जिसने दृढ़ता से वन में उनका साथ निभाने का हठ किया, जो अशोकवाटिका में रावण के प्रेम, लोभ, शत्रुता दिखलाने पर भी उसकी ओर देखा तक नहीं और तिनके की आड़ से ही उससे बात करती रहीं। हे दशानन! जुगनू के प्रकाश में कमलिनी कभी नहीं खिल सकती। रावण के तलवार निकालने पर वे तलवार को सम्बोधित कर कहती हैं कि हे तलवार! तेरी तेज़ धार रात्रि के समान शीतल है, मेरे दुःख के बोझ को तू हर ले। इतनी विपत्ति में एक दिन भी उनका आत्मबल नहीं टूटा। ऐसी सीताजी का इतना अपमान कि राम उन पर विश्वास न कर अग्निपरीक्षा लें। लेकिन सीताजी ने अपने नारीत्व को निष्कलंक प्रमाणित करने के लिये यह दुःख भी सहा और लक्ष्मण से अग्नि प्रकट करने को कहा।

प्रभु के वचन सीस धरि सीता। बोली मन क्रम वचन पुनीता॥
लछिमन होउ धरम के नेगी। पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी॥

राम को स्मरण कर जब पतिव्रता सीता ने अग्नि-प्रवेश किया तो अग्नि उनके लिये चन्दन के समान शीतल हो गई। और अग्निदेव ने उन्हें न जला सकुशल राम को वापस सौंप दिया। तुलसी ने तो सीता-चरित्र इतना ही चित्रित किया है कि राम अग्नि से निकली कंचन सी निखरी सीता को लेकर अयोध्या पहुँचे, राम का अभिषेक हुआ,

सीता भी निरंतर पति अनुकूल रह कर उनकी गृहस्थी की सेवा करती रही।

जेहि विधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा विधि जानइ॥

और आगे तुलसी ने यह कह कर सीता की जीवन-कथा समाप्त की है है कि –

दुइ सुत सुंदर सीतां जाए। लव कुस वेद पुरानन्ह गाये॥
दोउ विजई विनई गुन मंदिर। हरि प्रतिबिंब मनहुँ अति सुन्दर॥

लेकिन आदिकवि वाल्मीकि ने सीता के संघर्षमय जीवन की दुखद कथा का अन्तिम अंश अपने आंसुओं के करुण जल से लिखी है।

राम अग्निपरीक्षा से निकली निर्दोष सीता को अकारण ही लोक-मर्यादा के नाम पर लोक के द्वारा आपत्ति उठाये जाने पर राज-परिवार में स्थान न दे वन भेजने का निश्चय करते हैं। क्या यह उसका अपमान नहीं था ? लेकिन स्वाभिमानिनी ने अब अपने अधिकार की दुहाई देकर राजपरिवार में रहना उचित नहीं समझा और कहा कि हे लक्ष्मण! वही करो जो महाराज की आज्ञा हो। उन्होंने इस वेदना से प्राण भी नहीं त्यागे। वे माँ का कर्त्तव्य समझती थीं, वे राम की सन्तान की माता बनने वाली थी, उसकी रक्षा के लिए दुःख सह कर भी जीवित रहीं। जीवन की चरम स्थिति में सीता राम के पुनर्मिलन की परिस्थिति भी आदिकवि ने दिखाई है पर इतनी प्रतारणा और अपमान के बाद जब राम उन्हें अपनाना चाहते थे और वह भी लोक-रीति के नाम पर, तो उस आत्मसम्मानमयी ने यह नहीं स्वीकारा और वे माँ वसुन्धरा की गोद में विलीन हो गईं।

'तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशन्तीं रसातलम्'।

सीता के दुःखमय जीवन की कहानी यहाँ समाप्त होती है और उनकी ये असंख्य विपत्तियाँ भी, जिनके लिए वे उत्तरदायी नहीं थीं ... उनके प्रति की गई वंचना भी !

जीवन में प्रायः ऐसा होता आया है सदा असत्य और अज्ञान किसी न किसी के माध्यम से जीवन में आकर सत्य का अनुसरण करने वाले सत्यपथ के पथिकों को छलता है। वे जीवन भर दुःख और यंत्रणा पाते हैं और जीवन-समाप्ति ही उन विपत्तियों से उन्हें छुटकारा दिलाती है। स्वाभिमानी सीता की कथा भी ऐसी है जो भारतीय संस्कृति की चिरंतनता के साथ सदा अक्षुण्ण रहेगी।



अभागिन रानी

कैकेयी



"कुटिल रानि पछतानि अघाई"



पांच

"मानस" के वृहत् समाज में मानव प्रकृति की अनेकरूपिणी छटा दिखाई देती है। तुलसी नव समाज के स्रष्टा और मानव मन के द्रष्टा थे। जहाँ उन्होंने सामाजिकों के सामने आदर्श सामाजिक जीवन की रूपरेखा प्रस्तुत की वहाँ मानव मन की गहराइयों में छिपे गुप्त रहस्यों को बड़े कौशल से उभार कर व्यक्ति, संस्कार और परिष्कार के अनेक रास्ते भी सुझाये। उनकी मनोविज्ञान प्रेरित प्रतिभा ने जहाँ कौसल्या जैसी स्नेहमयी, विशालहृदया मर्यादामयी माता की सृष्टि की, वहाँ कैकेयी जैसी अभिमानिनी माता के हृदय का रहस्य भी उससे छिपा नहीं रह सका।

यदि नारी दया, ममता और स्नेह का सतत स्रोत है तो क्रोधी, ईर्ष्यालु और अभिमानिनी भी। सागर में समाई लहरों की भाँति हृदय में छिपे रहने वाले ये मनोविकार (प्रवृत्तियाँ) यथा अवसर उद्दीपन की परिस्थितियों में प्रकट हुये बिना नहीं रहते। रामचरितमानस की

कैकेयी के हृदयसागर में भी तूफान उठा देने वाला अवसर आया, उसकी बुद्धि भी कुप्रवृत्तियों के तूफान में दब गई। विनाशकाले विपरीतबुद्धिः, के अनुसार उसकी बुद्धि भी विपरीत हो गई। उसे युग-युग के लिये उपहास और घृणा का पात्र बनना पड़ा। कुछ विद्वानों का मत है कि मानस मे कैकेयी बुरे पात्र के रूप में चित्रित हुई है। तुलसी जैसे मनोपारखी की सूक्ष्म दृष्टि से भला यह चूक क्यों हो सकती थी? उन्होने कैकेयी के जीवन के अच्छे और बुरे दोनों पहलू हमारे सामने रखे हैं। जहां उसमें अहकार, क्रोध और स्वार्थ है वहां इन सब के बीच ममता और कोमलता के कण भी बिखरे पड़े हैं। इनकी ओर प्रारम्भ में तुलसी ने संकेत किया है। इन्हें ही पहचान कर राष्ट्रकवि मैथिली शरण ने कहा था –

"युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी
रघुकुल में थी एक अभागी रानी।"

कैकेयी प्रारम्भ से ही क्रोधी और कर्कशा नहीं थी। भरत से ही नहीं उसे राम से भी स्नेह था। कैकेयी-मथरा के एक सम्भाषण से यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है। सरस्वती के अभिशाप से ग्रस्त भ्रष्ट बुद्धि, मूर्ख मंथरा राम के अभिषेक की तैयारियाँ देखकर कुढ़ी हुई है, मुंह लटकाये खिन्न मन से कैकेयी के पास आ खड़ी होती है। कैकेयी उससे उदासीनता का कारण पूछती है। कारण जानने पर कैकेयी यह कहती है कि ज्ञात होता है लक्ष्मण ने तुझे सीख दी है।

हँसि कह रानि गालु बड़ तोरें। दीन्ह लखन सिख अस मन मोरें॥[1]

लेकिन पापिन मथरा फिर भी नहीं बोली तो भयभीत रानी के मुख से इतना ही निकला।

सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु।
लखनु भरत रिपुदमन सुनि भा कुबरी उर सालु॥[2]

---

[1] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ३८४, चौ० ४
[2] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ३८४, दो० १३

रानी की सरलता ने दुष्ट मंथरा को और भी बेचैन कर दिया। उस
रानी को भड़काया।

पूतु बिदेस न सोचु तुम्हारें। जानति हहु बस नाहु हमारें॥
नीद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप कपट चतुराई॥[१]

इतने पर भी सरलहृदया रानी मंथरा की भर्त्सना करती हुई कहती है
पुनः तुमने ऐसा कहा तो तुम्हारी जीभ खिचवा लूँगी।

पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी।
तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥[२]

इतना ही नहीं वह मंथरा से कहती हैं कि काने, कुबड़े और लंगड़े त
स्वभाव से कुचाली और दुष्ट होते हैं।

'काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।'[३]

और उनमें भी स्त्री और खासकर दासी में ये दोष प्रकट होते त
कुटिलता और कुचाल निश्चय ही होती है। पुनः उसे समझाती हैं वि
सूर्यकुल की यही रीति है कि बड़ा पुत्र ही स्वामी होता है।

जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥[४]

वह मंथरा से कहती हैं कि सखी यदि सत्य ही कल राम का राज
तिलक है तो मनवांछित फल माँग ले।

राम तिलकु जौं सांचेहुँ काली। देउँ माँगु मन भावत आली॥

हे मंथरा! क्या तुझे मालूम नहीं कि सहज स्वभाव राम को कौसल्या वे
समान ही सब माताएँ प्यारी हैं।

कौसल्या सम सब महतारी। रामहि सहज सुभायँ पिआरी॥[५]

फिर मुझ पर तो राम विशेष स्नेह करते हैं।

---

[१] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ३८५, चौ० ३
[२] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ३८५, चौ० ४
[३] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ३८५, चौ० १४
[४] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ३८५, चौ० २
[५] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ३८६, चौ० ३

मो पर करहिं सनेहु बिसेपी। मैं करि प्रीति परीछा देखी ॥[१]

कैकेयी को राम इतने प्रिय हैं कि वे कहती हैं कि हे विधाता दूसरे जन्म में भी मुझे राम जैसे पुत्र, सीता जैसी पतोहू मिले।

जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू। होहुँ राम सिय पूत पतोहू ॥

प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें। तिन्ह कें तिलक छोभु कस तोरें ॥[२]

ऐसे प्रिय राम के राजतिलक पर क्षोभ प्रकट करने पर वे मंथरा से इस क्षोभ का कारण पूछती हैं।

कैकेयी के इस व्यवहार से निश्चय ही राम के प्रति ममता और स्नेह तथा उसके हृदय का सहज सीधापन प्रकट होता है।

सीधे व्यक्तियों पर सगत का प्रभाव शीघ्र होता है और यदि कुसंगति मिले तो विनाश ही समझिये। गोस्वामीजी ने ठीक ही कहा है कि 'को न कुसंगति पाहि नसाहिं' कैकेयी के चरित्र पर यह युक्ति पूर्णतः घटित होती है। मंथरा जैसी कुनारी का साथ उसे ले ही डूबा। राग-द्वेष में कुशल मंथरा ने जान लिया कि रानी को कुटिल नीति पर लाने के लिये सौत तथा सौतेले पुत्रों के अत्याचार के अनेक उदाहरण देने होगे। राम के प्रति द्वेषभाव उत्पन्न करने के लिये सपत्नियों की तुलना मे कैकेयी के प्रति राजा के प्रेमाधिक्य के गर्व को जाग्रत करना होगा। वह कौसल्या के घमड की बात सुनाकर रूपगर्विता और प्रेमगर्विता कैकेयी के मन में ईर्ष्या उत्पन्न करती हुई कहती है कि सौत कौसल्या तुम्हारी जड़ उखाड़ना चाहती है।

मानु कमल कुल पोपनिहारा। बिनु जल जारि करइ सोइ छारा ॥

जरि तुम्हारि चह सवति उखारी। रूँधहु करि उपाउ बर बारी ।[3]

ईर्ष्याभाव दृढ करने के लिये राजा के प्रति क्रोध और अविश्वास जगाने वाली उक्तियाँ भी कहती है। "हे रानी! तुम सरल स्वभाव हो,

---

[१] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ३८६, चौ० [illegible]

[२] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ३८६, चौ० [illegible]

[3] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ३८८, चौ० [illegible]

तुम्हें अपने (झूठे) सुहाग बल पर कुछ भी सोच नहीं है। राजा को अपने वश में जानती हो किन्तु राजा मन के मलीन हैं और मुंह से मीठा बोलते हैं। राजा ने कौसल्या की प्रेरणा से ही राजतिलक के अवसर पर भरत को जानबूझ कर ननसार भेज दिया है। यह बात ठीक है कि आप राम को और आपको राम सीता प्यारे हैं लेकिन समय बदलते देर नहीं लगती, परम मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। राम का तिलक हो यह कुल-रीति के अनुसार तो उचित है किन्तु आगे की बात भी आपने सोची है? कौसल्या राजमाता होंगी और आपको अनेक प्रकार की यातनाएं सहनी पड़ेंगी, साथ ही दुष्ट मंथरा ने कुटिल-पन की बातें गढ़-छोलकर कैकेयी को उल्टा-सीधा समझाया और सैंकड़ों सौतों की कहानियाँ इस प्रकार कहीं जिससे विरोधभाव बढ़ता था।"

रचि पचि कोटिक कुटिलपन कीन्हेसि कपट प्रबोधु।
कहिसि कथा सत सवति कै जेहि बिधि बाढ़ बिरोधु ॥[1]

और सौत का सौत पर कूट व्यवहार प्रकट होता था।

कद्रूं बिनतहि दीन्ह दुखु तुम्हहि कौसिलाँ देव।
भरत बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब ॥[2]

कैकेयी को जब सुझाया गया कि राम के राजा होते ही जो दुःख कद्रू ने वनिता को दिया था तुम्हें कौसल्या देगी, भरत कारागार में सड़ेंगे और लक्ष्मण राम के नायब होंगे तो भयरूपी पाले ने कैकेयी की बुद्धि पर तुषारपात किया। कैकेयी को पूर्णरूप से भयभीत जान कपट की करोड़ों कहानियाँ सुनाईं और कहा कि धीरज रखो, आगामी विपत्ति से बचा भी जा सकता है। इन सब चालों के बाद कैकेयी के मन में सद्विचार कैसे और कहाँ उत्पन्न होते? फलतः कैकेयी सूर्यवंश पर लगने वाले अभिशाप का कारण बनी।

---

[1] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ३८६, दो० १८
[2] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ३९०, दो० १९

मंथरा की इतनी चेष्टाओं के बाद भी कैकेयी के मन में राम को वन भेजने की बात नहीं आई थी, जबकि वाल्मीकि रामायण में मंथरा कुटिल नीति पर पहुँची भी नहीं थी कि उसी की भय उत्पन्न करने वाली बातों को सुनकर कैकेयी क्रोध से तमतमा कर गरम सांस लेकर बोली कि—

अद्य राममितः क्षिप्रं वनं प्रस्थापयाम्यहम् ।
यौवराज्येन भरतं क्षिप्रमद्याभिषेचये ॥[1]

लेकिन 'मानस' में मंथरा ने एक ओर तो कोटि-कोटि कपटपूर्ण बातों से कैकेयी को डराया, बुरा पाठ पढ़ाया और दूसरी ओर उसे पत्थर काठ सा कठोर कर दिया।

मनोपारखी तुलसी ने मनोवैज्ञानिक ढंग से मंथरा द्वारा कैकेयी का हृदय-परिवर्तन करवाया है। निराश, भयभीत और असहाय होने पर स्नेह से कही गई बुरी बात भी व्यक्ति को हितकारक लगती है। कैकेयी को भी ऐसी मनःस्थिति में मंथरा का दुर्बुद्धिपूर्ण यह कथन सच जान पड़ा कि यदि राम का राजतिलक हो गया तो 'हे भामिनि ! आप दूध की मक्खी हो जायेंगी।' यदि पुत्र सहित सेवा का कार्य करेंगी तो घर में रह सकेंगी, अन्य दूसरा कोई उपाय नहीं है।

रेख खँचाइ कहउँ बलु भाषी। भामिनि भइहु दूध कइ माखी॥
जौं सुत सहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥[2]

यहीं पर मंथरा की कूटनीति और कुचक्र का पूर्ण प्रभाव पड़ गया। मंथरा ने कैकेयी की बुद्धि [illegible] [illegible] [illegible] बुद्धि को उसके [illegible] [illegible] पर फेर दिया। यहीं से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

कुबरीं करि कबुली कैकेयी । कपट छुरी उर पाहन टेई ।।
लखइ न रानि निकट दुखु कैसें । चरइ हरित तिन बलिपसु जैसें ।।[१]

मंथरा ने रानी को सब तरह से वशीभूत जान थाती रूप प्राप्त दशरथ से दो वरदान माँगने का सुझाव दिया ।

दुइ बरदान भूप सन थाती । मागहु आजु जुड़ावहु छाती ।।[२]

रानी को मंथरा का सुझाव अच्छा लगा । वह सहमत हो गई और कुपित हो कोपभवन में चली गई । उसका हृदय क्रोध से जलने लगा । सूर्यवंश पर आनेवाली विपत्ति बीज है, दासी वर्षाऋतु है, कैकेयी की कुबुद्धि इस विपत्ति-बीज के लिये जमीन हो गयी । उसमें कपटरूपी जल पाकर अंकुर फूट निकला और थातीरूप दोनों वरदान उस अंकुर के पत्ते हैं; अंत में इसी अंकुर पर दुःखरूपी फल उत्पन्न होगा ।

बिपति बीजु बरषा रितु चेरी । भुइँ भइ कुमति कैकई केरी ।।
पाइ कपट जलु अंकुर जामा । बर दोउ दल दुख फल परिनामा ।।[३]

संध्या समय जब राजा कैकेयी के महल में आये तो करोड़ों कुटिल ... वाली मंथरा की पढ़ाई हुई कैकेयी ने त्रियाचरित्र से राजा को लुभाया और पूर्वकथित दो वरदान देने का आश्वासन ले लिया ।

लखहिं न भूप कपट चतुराई । कोटि कुटिल मनि गुरू पढ़ाई ।[४]

महाराज ने हँसकर कहा दो के बदले चार क्यों नहीं माँग लेती हो ? रघुकुल में यह रीति चली आई है प्राण भले ही चले जायें, पर वचन नहीं जाता ।

रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई ।[५]

इस प्रकार प्रतिज्ञा कर जब दशरथ ने राम की सौगन्ध करके वरदान

---

१ तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ३९२, चौ० १
२ तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ३९२, चौ० ३
३ तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ३९३, चौ० ३
४ तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ३९७, चौ० ३
५ तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ३९८, चौ० २

देने की बात कही तब कैकेयी ने भरत के लिये राज्यतिलक और राम के लिये वनवास माँग कर अयोध्या में विपत्ति का बीज बो दिया। क्रोधान्ध होकर उसने महाराज से कुवचन कह कलंक की पूर्ण अधिकारिणी बनी।

भरतु कि राउर पूत न होंही। आनेहु मोल बेसाहि कि मोही ॥[1]
तभी राजा को रानी ऐसी लगी मानो क्रोधरूपी तलवार नंगी खड़ी हो।

आगें दीखि जरत रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी ॥
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरीं सान बनाई ॥[2]

राजा के कोमल समझौतेपूर्ण वचन भी कुबुद्धि रानी को निष्ठुरता से डिगा नहीं सके। वह अविश्वासपूर्ण व्यग्य वचन बोली – राम, राम की माता और आप कितने भले हैं मैंने पहचान लिया है। कौसल्या ने मेरा जैसा भला चाहा है, मैं भी 'साका'[3] करके उन्हें वैसा ही फल दूँगी। उसने अन्तिम तीर साधा – यदि प्रातःकाल होते ही राम मुनिवेष धारण कर वन नही चले गये तो मैं प्राण तज दूँगी और आपको अपयश मिलेगा। हठ और क्रोध मे रानी ने नीरक्षीर विवेक भी खो दिया। महाराज के लाख समझाने पर भी उसको सद्‌बुद्धि नही आई। वह नीच और निर्लज्ज भी हो गई। राजा ने यहाँ तक कहा कि मेरा काल तुझे पिशाच होकर लग गया है।[4] भरत तो भूलकर भी राजपद नही चाहते। समय आने पर अयोध्या फिर बसेगी, श्रीराम की प्रभुता होगी, सब भाई उनकी सेवा करेंगे। केवल तेरा कलंक और मेरा पछतावा मरने पर भी नही मिटेगा।[5] अब तुझे अच्छा लगे वही

[1] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४००, चौ० १
[2] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४०१, चौ० १
[3] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४०३, चौ० ४
[4] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४०५, दो० ३५
[5] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४०५, चौ० २
सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुन धाम राम प्रभुताई।
करिहहिं भाइ सकल सेवकाई। होइहि तिहुँ पुर राम बड़

कर, मेरी आंखों के सामने से हट जा। इस पर भी कैकेयी को पश्चात्ताप नहीं हुआ। पिता को दुखी जान जब राम उनके पास आये और मीठे वचनों से माता कैकेयी से पूछा हे माता ! मुझे पिताजी के दुःख का कारण कहो ताकि वह यत्न किया जाये जिससे उसका निवारण हो, निर्लज्ज कैकेयी ने अपने कुकर्म को फलीभूत करने के लिये निधड़क हो कठोर शब्दों में राजा से मिले दोनों वरदान राम को सुनाये। अयोध्यावासी उसे 'कुटिला', 'कठोर', 'दुर्बुद्धि' और 'अभागिनी' कहते हैं –

कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस बेनु बन आगी ॥[1]

श्रेष्ठ बूढ़ी स्त्रियों के समझाने पर भी वह नहीं मानती –

बिप्रबधू कुलमान्य जठेरी। जे प्रिय परम कैकई केरी ॥
लगीं देन सिख सीलु सराही। बचन बानसम लागहिं ताही ॥[2]

रानी के ऐसे हठ को देखकर तुलसीदास कहते हैं कि 'जानि न जाइ नारि गति भाई' और 'का न करै अबला प्रबल'। कैकेयी की भी ऐसी ही मनःस्थिति है उसके मन की गति समझी नहीं जा सकती। नीचता की चरम सीमा तो तब देखने योग्य है जब राजा, सुमन्त्रजी की पत्नी और गुरु वशिष्ठ की स्त्री ने तो सीता से कहा कि तुम्हें वनवास नहीं दिया गया है इसलिये तुम वन न जाओ लेकिन कैकेयी क्रोध से भरी तमक कर उठी और सीताजी के लिये स्वयं मुनियों के वस्त्र व गहने (माला, मेखला आदि और बर्तन कमण्डलु आदि) लाकर रख दिये।

सीय सकुच बस उतरु न देई। सो सुनि तमकि उठी कैकेयी ॥
मुनि पट भूषन भाजन आनी। आगें धरि बोली मृदु बानी ॥[3]

भरत ननिहाल से लौटते हैं। दशरथ का मरण समाचार देने से पहले अपने नैहर की कुशल पूछती है। पिता के लिये दुखी भरत को देखकर कहती है –

---

[1] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४१६, चौ० २
[2] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४१८, चौ० २
[3] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ४४५, चौ० १

तात राउ नहिं सोचै जोगू । बिढ़इ सुकृत जसु कीन्हेउ भोगू।।[१]
और स्वार्थ से अन्धी कैकेयी पुत्र के मनोभाव को न समझती हुई उससे राजकाज सँभालने को कहती है ।

जीवत सकल जनम फल पाए । अंत अमरपति सदन सिधाए ।।
अस अनुमानि सोच परिहरहू । सहित समाज राज पुर करहू ।।[२]
स्वार्थ ने उसे इतना अन्धा कर दिया है कि उसे पति-मृत्यु का दुःख भी नहीं होता है । प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है । कैकेयी की नीचता पराकाष्ठा पर पहुँच गई तो वह अपने प्रिय पुत्र की भी घृणा का पात्र बनी ।

जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ । खंड खंड होइ हृदय न गयऊ ।।
बर मागत मन भइ नहिं पीरा । गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा ।।[3]
भरत को तो इतना क्रोध है कि इस प्रकार का वर देने में कैकेयी की बात मानने वाले पिता को भी वे क्षमा नहीं कर सके हैं ।

भूपँप्रतीति तोरि किमि कीन्ही । मरन काल बिधि मति हर लीन्ही ।।[४]
जिन भरत के लिये कैकेयी ने ये सब आडम्बर रचे वे ही उसका पुत्र होने में अपने आप को हीन और लज्जित अनुभव कर रहे हैं ।

'जद्यपि जनमु कुमातु तें मैं सठु सदा सदोस ।'[५]
लेकिन भरत की ग्लानि भरद्वाज मुनि ने दूर कर दी –

'तात कैकइहि दोसु नहिं गई गिरा मति धूति ।'[६]
प्रिय पुत्र की अवहेलना और ग्लानि ने कैकेयी को उसके अपराध का अनुभव करा दिया । कैकेयी अपने कुकर्म के परिणाम को समझ कर पछताने लगी ।

---

[१] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ५२३, चौपाई १
[२] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ५२३, चौपाई, २
[3] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ५२४, चौपाई, १
[४] तुलसीदास, रामचरितभामस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ५२४, चौपाई, २
[५] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ५४४, दोहा १८३
[६] तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ५६६, दोहा २०६

सो भावी वस रानि अयानी । करि कुचालि अंतहुँ पछितानी ।।[१]
अन्तर्यामी राम वन में सबसे पहले कैकेयी से ही मिले और अपने सीधे स्वभाव तथा भक्ति से उनकी वुद्धि को परिष्कृत कर दिया ।[२] विनती करके कैकेयी को समझाया कि जो कुछ सूर्यवंश में घटित हुआ उसके लिये काल, कर्म, ब्रह्मा दोषी हैं वह नहीं । कैकेयी की ग्लानि राम ही दूर कर सकते थे । गोस्वामीजी ने इस संदेह के लिये स्थान नहीं रखा है कि कैकेयी को ग्लानि थी या नहीं । गोस्वामीजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि रानी की कठोरता आकस्मिक थी स्वभावगत नहीं ।

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई । कुटिल रानि पछितानि अघाई ।।
अवनि जमहि जाचति कैकेयी । महि न वीचु विधि मीचु न देई ।।[३]
राम के शील-स्वभाव की मनोहारिणी छटा को देख वन में रहने वाले कोल-किरात भी मुग्ध हो जाते थे । ग्लानि की अवस्था में वन आश्रम के सात्विक वातावरण में कैकेयी कैसे प्रभावित न होती ? वह जी भर के पछताई । वह पृथ्वी तथा यमराज से याचना करती है, किन्तु धरती वीच नहीं देती (फटकर समा जाने के लिये रास्ता) और विधाता मौत नहीं देता । अपने दुष्कर्म के कारण वह जीवन भर पछताई । चौदह वर्ष वाद जव राम वन से लौटे तव भी कैकेयी उनसे मिल कर हृदय में सकुचा गई । यहाँ भी राम पहले उसी के घर गये ।[४]

मंथरा के कुप्रभाव से वह कुपथ पर चली गई थी राम और भरत के सात्विक प्रभाव से वह पुनः सत्पथ पर आई । राम ने प्रत्येक अवसर पर उसे सहज सरल स्नेह प्रदान कर उसकी ग्लानि पूर्ण मनः-

---

१ तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ५६७, चौ० ३

२ तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ६०३, चौ० ४
प्रथम राम भेंटी कैकेई । सरल सुभायँ भगति मति भेई ।।
पग परि कीन्ह प्रवोधु वहोरी । काल करम विधि सिर धरि खोरी ।।

३ तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ६११, चौ० ३

४ तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ १०२६, चौ० १

स्थिति को शमित करने चेष्टा की है। स्थान-स्थान पर तुलसी ने भी यह उक्ति कहकर कि 'मंथरा की सिखाई पढ़ाई कैकेयी' यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि कुसंगति के प्रभाव और बिना विचारे आकस्मिक निर्णयों पर पहुँचने के परिणामस्वरूप कैकेयी का चरित्र आपत्ति का कारण अवश्य बना लेकिन उसका पर्यवसान सात्विकता में हुआ है।

सात्विकता के इसी सत्य से प्रेरणा ग्रहण कर आधुनिक काल में कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने कैकेयी के प्रायश्चित्त का बड़ा करुण रूप अपने महाकाव्य साकेत में प्रस्तुत किया है। भरत ननिहाल से आकर उसे धिक्कारते हैं।

धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह,
खा गया जो भून कर पति-देह।
ग्रास करके अब मुझे हो तृप्त,
और नाचे निज दुराशय-दृप्त।[1]

भरत की यह ताड़ना कैकेयी के मन में जिस सात्विक भाव का उद्रेक करती है उसको तुलसी ने केवल दो चौपाइयों में कह कर समाप्त कर दिया है, लेकिन मैथिलीशरण गुप्त ने उसकी ग्लानि को स्वर देकर उसके सारे कलंक को धो डालने की चेष्टा की है। वन में राम भरत के प्रेम से द्रवीभूत हो गये हैं—

"उसके आशय की थाह मिलेगी किसको?
जन कर जननी ही जान न पाई जिसको।[2]

कैकेयी को जैसे अपनी ग्लानि प्रकट करने के लिये स्वर मिल जाता है

"यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को।
चौंके सब सुन कर अटल कैकेयी स्वर को।।[3]

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ १३७
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ १७८
[3] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ १७२

वह कहती है कि जिस पुत्र के प्रेम में अंधी होकर उसने यह सब किया वही पुत्र उसे मातृपद से वंचित कर रहा है और वह उस स्वार्थ को भी धिक्कारती है जिसके वशीभूत हो उसने राम को वनवास दिया था—

युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।'[1]

एक अपराधिनी का इससे बड़ा प्रायश्चित और क्या हो सकता था कि प्रत्येक जन्म में वह इस अपराध के लिये धिक्कारी जाने के लिये प्रस्तुत है।

निज जन्म जन्म में सुनें जीव यह मेरा—
'धिक्कार! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।'

राम उसकी ग्लानिजन्य व्याकुलता को पहचान कर उसे शान्त करते हैं—

सौ वार धन्य वह एक लाल की माई।
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई॥[2]

कैकेयी को जैसे त्राण मिल गया। कैकेयी के जिस पश्चात्ताप को वाल्मीकि और तुलसी ने पूर्ण स्थान नहीं दिया उसे मैथिलीशरण गुप्त ने वाणी देकर 'अभागी रानी' के अपराध-भार को हलका करने का सफल प्रयास किया है।



---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ १८०

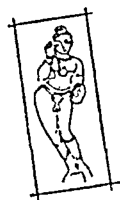
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ १८०

रावण की पटरानी

मंदोदरी



तासु बिरोध न कीजिअ नाथा।
काल करम जिव जाकें हाथा॥



छः

मंदोदरी पंच कन्याओं में से एक थी। पुराणानुसार सर्वदा कन्या रहने वाली पाँच स्त्रियाँ अहिल्या, द्रौपदी, कुन्ती, तारा तथा मन्दोदरी हैं। ऐसा माना जाता है कि विवाह आदि हो जाने पर भी इनका कन्यात्व अक्षुण्ण रहा इसीलिये ये पंचकन्याएँ प्रातःस्मरणीय मानी जाती हैं। मंदोदरी के पिता का नाम मयासुर था तथा माता रम्भा नामक अप्सरा थी। आचार्य चतुरसेन ने अपने उपन्यास 'वयं रक्षामः' उपन्यास में इनकी माता का नाम हेमा लिखा है।[1] नाम जो भी हो ये थीं अप्सरा पुत्री यह सर्वविदित है। राम काव्य साहित्य में हमें मंदोदरी के व्यक्तित्व का पूर्ण परिचय मिलता है।

इसके पिता मयासुर दानव को देवों ने रम्भा नाम की अप्सरा दी थी। उसने अप्सरा के सुख-विलास के लिये स्वर्णमय मयनगर बनाया उसी रम्भा की पुत्री मंदोदरी है। जब यह बड़ी हुई तो मयासुर

1 आचार्य चतुरसेन, वयं रक्षामः, पृष्ठ ८९

प्रजापतिवंश के ऋषिपुत्र रावण में विक्रम शील देखकर सुलक्षणा मन्दोदरी का उससे विवाह कर दिया साथ ही बहुत स्वर्ण, रत्न और अपनी अमोघ शक्ति दी। रावण ने मन्दोदरी को राक्षसकुलमहिषी बनाया।

रावणपत्नी मन्दोदरी वक्रगति, क्षीणकलेवरा, विमलसलिला शैल नदी के समान देहयष्टिवाली मधुर और सुकमार थी। क्षीण कटि होने के कारण उसका नाम मन्दोदरी पड़ा। शोभा उस पर बरसती थी। महिषी होने पर भी मन्दोदरी को कभी अभिमान नहीं हुआ। वह स्वयं रावण के सुख-दुःख का ध्यान रखती थी। उसके अनुरोध से ही विवाह पूर्व मय दानव ने मकराक्ष से युद्ध करते हुए रावण की रक्षा की थी। रावण को मकराक्ष के यहाँ बलियूप में बँधा देखकर मन्दोदरी उस पर मोहित हो गई थी।[1] इस अर्थ में वह स्वयंवरा भी थी। रावण रक्षपति था लेकिन मन्दोदरी ने उसे ऋषिपुत्र होने के कारण आर्यपुत्र संबोधन किया, अपने को उसकी अनुगता और दासी समझा।[2] वह रावण को सदा सम्मति देती रही और रावण भी यथासंभव उसकी भावनाओं का आदर करता रहा। लेकिन दुर्भाग्य किसी का पीछा नहीं छोड़ता। रावण के विनाश का कारण उसके दुष्कर्म तथा उसकी उच्छृंखल बहन शूर्पणखा बनी। जब लक्ष्मण ने उसे नाक कान काट कर भेज दिया तो पहले वह खरदूषण के पास गई लेकिन जब वह मारा गया तो रावण के पास विलाप करती हुई गई। रावण जोश में अकेला ही वहाँ चल दिया जहाँ राम थे और राम की अनुपस्थिति में सीता को हर लाया। बिना विचारे काम करने वाले को पछताना ही पड़ता है। हनुमान द्वारा लंकादहन के समय नीतिज्ञा मन्दोदरी ने रावण को बहुत समझाया कि राम बहुत शक्तिशाली हैं। यदि आप भलाई चाहते हैं तो मन्त्री को बुलाकर उनकी स्त्री उनके पास भिजवा दीजिये।

---

[1] आचार्य चतुरसेन, वयं रक्षामः, पृष्ठ ६७

[2] आचार्य चतुरसेन, वयं रक्षामः, पृष्ठ ६८

तासु नारि निज सचिव बुलाई। पठवहु कंत जो चहहू भलाई ॥[१]

कमलवनरूपी आपके कुल के लिये सीता शीतकाल की रात्रि के समान आई है। हे नाथ! बिना सीता को लौटाये शंकर और ब्रह्माजी भी आपका हित करें तो नहीं होगा।

उस दूरदर्शिणी ने कहा कि जब तक राम राक्षसों को नष्ट करें उससे पहले ही अपनी टेक त्याग दीजिये। रावण ने उसे डरपोक कहा और चला गया। लेकिन उसने केवल इतना ही सोचा कि विधाता मेरे पति पर उल्टा हो गया है। अन्त में जब राम की वानरसेना लंका पर चढ़ आई और उन्होंने समुद्र को बाँध लिया तो विवेकशीला सत्यवादिनी मन्दोदरी ने रावण को समझाया कि हे नाथ! वैर तो उसीसे करना चाहिये जिसे बुद्धि और कुल द्वारा जीता जा सके। आप में और राम में जुगनू और सूर्य जैसा अन्तर है।

नाथ बयरु कीजे ताही सों। बुधि बल सकिअ जीति जाहीं सों ॥
तुम्हहि रघुपतिहि अन्तर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहि जैसा ॥[२]

जिन्होंने मधुकैटभ, हिरणाक्ष और हिरण्यकशिपु को मारा उनके हाथ में काल कर्म और जीव सभी हैं। आप जानकी को राम के पास भेज, पुत्र को राज्य दे वन में जाकर ईश्वरभजन करिये। तभी आप राम के कोप से बच सकते हैं। आप वीर हैं, चर-अचर को जीत चुके हैं। अब 'चौथेपन' में आपको भजन करना ही चाहिए। दुष्ट रावण पर मंदोदरी के सत्य वचनों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और वह मंदोदरी से अपनी प्रभुताई कहने लगा और पतिव्रता मन्दोदरी ने जब अपने सुहाग को बचाये रखने की याचना की तो उसकी चेतावनी को अनसुनी कर उसे आठ अवगुणों से युक्त बताया।[3]

---

[१] तुलसीदास, रामचरितमानस, पृष्ठ ८३२, चौपाई ४

[२] तुलसीदास, रामचरितमानस, पृष्ठ ८६६, चौपाई ३

[3] तुलसीदास, रामचरितमानस, पृष्ठ ८७७, चौपाई १,२
नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदाउर रहहीं ॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया ॥

वह ईश्वर और सद्गति में विश्वास करती है इसीलिए वह राम द्वारा पति-मृत्यु जानकर भी उसे ईश्वर की कृपा समझ ग्रहण करती है।

अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं आन।
जोगि बृंद दुर्लभ गति तोहि दीन्हि भगवान॥[1]

वाल्मीकि ने तो उसे कर्मफल में विश्वास करने वाला भी माना है, वह रोती हुई विलाप करती है कि आपने छल से सीता को चुराया था इसीलिये आपको यह दण्ड मिला।

सीतां सर्वानवद्याङ्गीमरण्ये विजने शुभाम्।
आनयित्वा तु तां दीनां छद्मनाऽऽत्मस्वदूषणम्॥[2]

आपने मैथिली के समागम की कामना की थी। उसका ही यह दण्ड है, उस देवी की तपस्या का प्रभाव है।

अप्राप्य तं चैव कामं मैथिलीसंगमे कृतम्।
पतिव्रतायास्तपसा नूनं दग्धोऽसि मे प्रभो॥[3]

वाल्मीकि की मन्दोदरी ने पापकर्म के लिये रावण को बुरा भला भी कहा है। विलाप के समय यह कहकर कि—

अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः।
भर्तः पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः॥[4]

हे प्राणवल्लभ! इसमें कोई संदेह नहीं कि समय आने पर कर्ता को उसके पाप-कर्म का फल अवश्य मिलता है।

वाल्मीकि रामायण में विलाप करती हुई मन्दोदरी अपने आपको सीता से कभी कुल, रूप और दाक्षिण्य में श्रेष्ठ बताती है, कभी अपने

---

[1] तुलसीदास, रामचरितमानस, पृष्ठ ९८९, दोहा १०४
[2] श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे युद्धकाण्डे एकादशाधिकशततमः सर्गः, पृष्ठ १३९९/२२ (गीताप्रेस, गोरखपुर)
[3] श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे युद्धकाण्डे एकादशाधिकशततमः सर्गः, पृष्ठ १३९९/२३ (गीतप्रेस, गोरखपुर)
[4] श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे युद्धकाण्डे एकादशाधिकशततमः सर्गः, पृष्ठ १३९९/२५ (गीताप्रेस, गोरखपुर)

पुष्पों की समाप्ति पर दुःख प्रकट करती है, कभी राजाओं की चंचल राजलक्ष्मी को धिक्कारती है और कभी रावण से प्रार्थना करती है कि जिस मार्ग पर आप गये उसी पर मुझे ले चलिये, मैं आपके बिना जीवित नहीं रह सकूंगी।

प्रपन्नो दीर्घमध्वानं राजन्नद्य सुदुर्गमम् ।
नय मामपि दुःखार्तां न वर्तिष्ये त्वया विना ॥[1]

लेकिन रामचरितमानस में मन्दोदरी रावण की अन्य स्त्रियों सहित उसे तिलांजलि देकर घर चली गई। वाल्मीकि ने मन्दोदरी की हृदयगत भावनाओं को अधिक मानवीय रूप में प्रस्तुत किया है। वह प्रिय की मृत्यु पर अनेक तरह से विलाप करती है। अन्त में विभीषण के कहने से घर जाती है। रामचरितमानस में मन्दोदरी का तटस्थ ज्ञानी रूप प्रकट हुआ है वह अनेक तरह से रावण के शौर्य का स्मरण करती हुई विलाप करती है और उसकी अन्त्येष्टि हो जाने पर तिलांजलि देकर ही घर चली जाती है।

रावण की पत्नी होते हुए भी सत्य और न्याय के पक्ष को समझने वाली मन्दोदरी का चरित्र प्रशंसनीय है। उसने कहीं राक्षसपत्नी जैसा व्यवहार नहीं किया, कभी रावण की अवज्ञा नहीं की, सदा उसे सत्पथ का अनुसरण करने के लिये प्रेरित किया। अन्त में जब रावण अपनी दुर्बुद्धि और अज्ञान के कारण मन्दोदरी के ज्ञान को समझ नहीं सका तो वह मारा गया। इस प्रकार पति के दुष्कर्मों से ही मन्दोदरी को वैधव्य भोगना पड़ा और विभीषण के संरक्षण में जाना पड़ा। मन्दोदरी के लिये यह प्रचलित है कि उसने रावण की मृत्यु के बाद देवर विभीषण से विवाह किया था। तुलसी ने इस कृत्य का अधिक दायित्व विभीषण पर डाला है। जिस पाप के लिये राम ने बालि को व्याध की

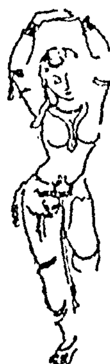
---

[1] श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे युद्धकाण्डे एकादशाधिकशततमः सर्गः,
पृष्ठ १४०१/५६ (गीताप्रेस,गोरखपुर)।

तरह मार डाला था वही कुचाल विभीषण ने की परन्तु श्रीराम ने स्वप्न में भी उस ओर ध्यान नहीं दिया। बल्कि भरत से भेंट करते समय उसका सम्मान हुआ और राजसभा में राम ने उसकी बड़ाई की, अतः मंदोदरी के इस कृत्य का दायित्व विभीषण पर डाल दिया है।

जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली।।
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी।।[1]

यथार्थ में दोष विभीषण का था। रावण की राज्य सम्पदा के साथ उसने रावण का सब कुछ अपना समझ लिया, मन्दोदरी को भी। असहाय अबला विभीषण के संरक्षण में रहती हुई उसका कैसे विरोध करती ? इस कृत्य के अतिरिक्त मन्दोदरी-चरित्र सब रामकथा-काव्यों में बड़ा निर्मल चित्रित हुआ है।



[1] तुलसीदास, रामचरितमानस, पृष्ठ ४०, चौपाई ३, ४

पद्मावत की विरहिणी

नागमती



आवा पवन विछोह कर पात परा बेकरार ।
तरिवर तजा जो चूरि कै लागे केहि के डार ॥



सात

पद्मावत के नागमती 'वियोग खण्ड' और 'सन्देश खण्ड' में महाकवि जायसी की कवि प्रतिभा अपने उत्कृष्ट रूप में प्रकट हुई है। यदि जायसी पूरा पद्मावत नहीं लिख पाते तो भी केवल इन्हीं दो खण्डों को लिख कर हिन्दी साहित्य में अमर हो जाते। इन खण्डों का एक-एक दोहा 'महाविरह का अगाध समुद्र है।'

जायसी भावुक कवि थे। पद्मावत की पंक्ति-पंक्ति में भावुकता फूटी पड़ती है। जायसी स्वयं विरह की चोट खाये थे। उनका हृदय उस अनन्त अज्ञात ईश्वर की प्रेम-पीड़ा से घायल था। इसीलिए उन्होंने जहाँ भी विरह का वर्णन किया है वहाँ अपना हृदय ही खोलकर रख दिया है अतः पद्मावत विरहप्रधान काव्य है और उसमें भी नागमती का विरह वर्णन हिन्दी काव्य की अनुपम निधि है।

चार प्रकार के विरह—पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण में से नागमती-विरह में पूर्वानुराग तथा मान का तो प्रश्न ही नहीं उठत

श्रौर करुण तथा प्रवास में से नागमती का विरह प्रवास-हेतुक ही अधिक लगता है। नागमती का जीवनसर्वस्व एक तोते के मुख से एक दूसरी स्त्री के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर सात समुद्र पार, सिंहल द्वीप में उसको प्राप्त करने के लिए, घरद्वार, राजपाट सब कुछ त्याग कर उसे अनिश्चित समय के लिए विरहाग्नि में जलने के लिए छोड़ कर चला जाता है। इसी करुण भूमि पर नागमती का विरह आधारित है। इसीलिए उसका विरह शोक की सीमा तक पहुँचा हुआ मालूम पड़ता है। वेदना का जितना निरीह निरूपण, मार्मिक, गम्भीर, निर्मल एवं पावन रूप इस विरह वर्णन में मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँ नागमती प्रवस्यत्पतिका के रूप में सामने आती है।

यहाँ विप्रलंभ का आलंबन रत्नसेन है। वह नागमती की आशा-अभिलाषाओं को कुचल कर शंका-आशंकाओं के बीच छोड़ कर चल देता है। वह तड़प कर रह जाती है।

'सूवा काल होई लेइगा पीउ, पिउ नहिं जात जात बरुजीऊ।'[1] विरहिणी की आँखें पथ पर ही लगी रहती हैं यद्यपि सखियाँ उसे राजकीय मर्यादा पालन करने के लिए सचेत करती हैं। 'पाट महादेई' को निराश नहीं होना चाहिए और 'समुझि जीउ चित चेत सँभारू' कहकर चेत सँभालने को कहती हैं। रत्नसेन के लौट आने की आशा बँधाती हैं। परन्तु नागमती विवश है, उसकी हृदय-पीडा कोचेतन-अचेतन दोनों ही वस्तुयें अधिक उद्दीप्त करती हैं।

प्रकृति द्वारा उद्दीप्त विरह उसे असहनीय है। विरहानुभूति के कारण प्रकृति के सुन्दर उपकरण उसे तिल-तिल करके जला गला रहे हैं। जायसी ने बारहमासा उद्दीपन रूप में ही लिखा है। विरह के बारहमासे यहीं से जन्म लेते हैं। यह जायसी की हिन्दी को बड़ी महत्त्वपूर्ण देन है। यहाँ वेदना का अत्यन्त निर्मल स्वरूप निखरा है। रामचन्द्र

---

[1] जायसी, पद्मावत, पृष्ठ २६०, ३४१ (सं० माताप्रसाद गुप्त)

शुक्ल के अनुसार इस बारहमासे में 'हिन्दू दाम्पत्य जीवन का अत्यन्त मर्मस्पर्शी माधुर्य, अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचर्य भावना तथा विषय के अनुरूप भाषा का अत्यन्त स्निग्ध, सरल, मृदुल और अकृत्रिम प्रवाह देखने को मिलता है।[१]

प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का दिग्दर्शन 'जायसी ने इस बारहमासे में बड़े सुन्दर ढंग से किया है। उद्दीपन की दृष्टि से प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण नहीं होता है। प्रकृति की झलक दिखाकर वियोगी के हृदय की अवस्था की व्यंजना की जाती है। ऐसे सुन्दर निदर्शन हमें इस बारहमासे में मिलते हैं। नागमती अपनी हृदय-पीड़ा का साम्य प्रकृति में देखती है। प्रकृति उसे संवेदनामयी प्रतीत होती है। बरसात में वह एक ओर टपकती हुई 'ओलती' देखती है, दूसरी ओर अपनी आँसुओं की धारा को देखती है! एक ओर सूखे 'आक-जवास' को देखती है तो दूसरी ओर अपने शरीर को।

वरिसै मघा झँकोरि झँकोरी मोर दुई नैन चुवहि जस ओरी।[२]
पुरवा लाग पुहुमि जल पूरी आक जवास भई तस भूरी॥

शिशिर में एक ओर सूख कर झड़े हुए पीले पत्तों को देखती है तो दूसरी ओर अपनी पीली पड़ी देह को।

तन जस पियर पात भा मोरा।
विरह न रहै पवन होई झोरा॥[३]

नागमती अति दुःखित होकर सोचती है क्या रत्नसेन के देश में ये ऋतुएँ नहीं होतीं। 'नहि पावस अहि देसरा नहि हेवंत वसंत न कोकिल न पपीहरा जेहि सुनि आवै कंत' जिनसे प्रभावित होकर उसके कंत आजायें।

---

१ रामचन्द्र शुक्ल त्रिवेणी, पृष्ठ ५१
२ जायसी, पद्मावत, पृष्ठ २६४, ३४६
३ जायसी, पद्मावत, पृष्ठ २६६, ३५२

यह सादृश्य भावना स्वभावतः ही अभिव्यक्त हो गई है। इसके लिए जायसी ने प्रयास किया हो ऐसा प्रतीत नही होता। नागमती अपनी विरह-विद्‌ग्धता का सादृश्य प्रकृति में देखती है।

विरह ताप की व्यापकता इतनी बढ़ जाती है कि मानवीय दशाओं के साथ प्रकृति अथवा सृष्टि भी प्रतिसंवेदित और प्रभावित होती है।

'अस परजरा विरह करकठा मेघ श्याम मै धुँआ जो उठा।
दाघे राहु केतु गा दाधा सूरज जरा चाँद जरि आधा ॥'[1]

ताप के अलावा विरह के अन्य अंगो का वर्णन जायसी ने पूर्ण सवेदना से किया है। नागमती के आँसुओ से समस्त सृष्टि गीली हो रही है।

'कुहुकि कुहुकि जसि कोइलि रोई रक्त के आँसु घुघुचि बन बोई।'[2]

पलाश का रक्त वर्ण तथा गेहूँ का हृदय विरह के कारण ही विदीर्ण है।

राते बिब भीज तेहि लोहू। परवर पाक फाट हिय गेहूँ।

विरहावस्था मे विरही को वाह्य प्रकृति में अभ्यन्तर जगत् का प्रतिबिम्ब दीखता है यहाँ भी प्रकृति को समदुख से दुखी समझ उसके प्रति संवेदना प्रकट की गई है।

प्रेम में सुख दु ख के अतिरेक की मात्रा बढ जाती है। अनुभूति के विषयों का विस्तार भी बढ जाता है। सयोग की दशा मे जो वस्तुयें आनन्दप्रद होती है वे ही वस्तुएँ वियोग की दशा मे प्रिय प्रेम की स्मृति कराके दुःखमयी बन जाती हैं। इसी दु खद रूप मे प्रत्येक मास की सामान्य प्राकृतिक वस्तुओं का वर्णन जायसी ने किया है जिसके साहचर्य का अनुभव राजा से लेकर रक तक सभी करते हैं। सूरदासजी ने भी गोपियो के हृदय के रग मे बाह्य प्रकृति को रंगा है। गोपियों को जहाँ प्रकृति कठोर प्रतीत होती है वहाँ उसे कोसा है।

मधुबन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग श्यामसुन्दर के ठाढे क्यों न जरे ॥

---

[1] जायसी, पद्मावत, पृष्ठ ३१६, ३७०
[2] जायसी, पद्मावत, पृष्ठ ३०७, ३५६

नागमती को भी विरह के कारण प्रकृति कठोर दिखाई पड़ती है।

खरग बीज चमकै चहुँ ओरा।
बुंद-बान बरिसै चहुँ ओरा॥[१]

बिजली खड़ग के समान चमक रही है। बूँद रूपी बाण चारों ओर बरस रहे हैं। दुःख में कष्टदायक वस्तुएँ तो कष्ट देती ही हैं।

काँपा हिया जनावा सीऊ
तो पै जाइ होइ संग पीऊ।[२]

सुखदायक वस्तुएँ भी दुःखप्रद हो जाती हैं।

कातिक सरद चंद उजियारी
जग शीतल हों विरहै जारी।[३]

प्राकृतिक वस्तुओं से उद्दीपन होता है। चेतन वस्तुयें भी विरह उद्दीप्त करती हैं। नागमती देखती है सबके प्रिय आ रहे हैं एक वही अकेली है, तो उसके हृदय में टीस उठती है! पपीहे का प्रिय आ गया, सीप को भी स्वाति बूँद मिल गई, पर नागमती का प्रिय नहीं आया।

'चित्रा मित्र मीन कर आवा
कोकिल पीउ पुकारत पावा
स्वाति बूँद चातक मुख परे
सीप समुद्र मोति सब भरे'[४]

फागुन में सखियों को 'चांचरी' खेलते देख नागमती की विरहाग्नि और भी अधिक दाहक हो जाती है 'मोहि तन लाइ दीन्हि जस होरी

नागमती के अन्तःस्थल में व्याप्त व्यथा को स्पष्ट करने के लि जायसी ने बड़े सहज स्वभाविक ढंग से अनुभावों की योजना की है।

---

१ जायसी, पद्मावत, पृष्ठ २९३, ३४४
२ जायसी, पद्मावत, पृष्ठ २९७, ३४९
३ जायसी, पद्मावत, पृष्ठ २९६, ३४८
४ जायसी, पद्मावत, पृष्ठ २९५, ३४७

नागमती का विरह महलों तक सीमित नहीं है उसका विस्तार और विकास हुआ है। सूर की राधा और गोपियों की तरह नागमती के विरह में भी प्रकृति ने पूरा सहयोग दिया है। वह विरहोन्माद में अपने रानी-रूप की स्थिति भूल जाती है और पेड़ों के नीचे रोती फिरती है। पेड़, पल्लव और पक्षियों को अपना दु:ख सुनाती है। विरहजन्य उन्माद की अवस्था में जड़-चेतन का भेद भूल कर हृदय को सामान्य मानवता की स्थिति में ले आने वाली दशा का वर्णन आदि-कवि, कालिदास, तुलसी, सूर, जायसी सभी ने विप्रलंभ के अन्तर्गत किया है, जायसी ने इसको एक कदम आगे बढ़ा दिया है। नागमती की विरह वेदना इतनी तीव्र है कि पक्षियो को बोलने को बाध्य करती है जो अस्वाभाविक लगती है। पक्षी नागमती से दुःख का कारण पूछता है। नागमती कहती है कि 'का सोवे जो कत विछोही।' पद्मावती को पक्षी द्वारा सन्देश भेजती है कि नारी होकर नारी का हृदय पहिचानो।

'हमहुँ वियाही सग ओहि पीउ। आपुहि पाई जान पर जीऊ॥'
विरहावस्था मे विरहिणी को 'निरबलवता' की अनुभूति होती है। जायसी ने प्रकृति में उसका व्यापार दिखाकर उसका सुन्दर ढग से प्रत्यक्षीकरण किया है।

आवा पवन विछोह कर पात परा बेकरार।
तरिवर तजा जो चूरि के लागे केहि के डार॥

जायसी ने विरहजन्य कृशता दिखाने मे कवि प्रथानुसार पूर्ण अत्युक्ति की है लेकिन नागमती की कृशता उस मजाक की सीमा तक नहीं पहुँची है कि बिहारी की नायिका की तरह सांस लेने में 'घड़ी के पेण्डुलम, की तरह हिलने लग जाये'[1] और न उर्दू के शायर की तरह

---

[1] बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ १३३
इत आवति चलि जाती उत चली, छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरें सैं रहै लगी उसासनु साथ॥

खटमल या जूं का बच्चा बन' जाने की हद तक पहुँची है[१] । जायसी ने जो नागमती की कृशता का चित्र खींचा है वह हृदय को द्रवीभूत करने वाला है ।

दहि कोइला भइ कंत सनेहा । तोला मासु रही न देहा ।।
रकत न रहा विरह तन जरा । रती रती होइ नैनन ढरा ।।

हृदय की गम्भीर वेदना का आभास हमें नागमती की इन्हीं पंक्तियों में मिलता है ।

'जरत बजागनि करूँ पिऊ छांहा आय बुझाउ अगारन्ह माहाँ ।
लागत जरें जरें जस भारु फिर फिर भूजेंसु तजऊ न बारू ।।'

यह विचित्र बात है कि वियोगी को वियोग व्यथा कितनी ही क्यों न व्यथित करे लेकिन वह उस दशा से अलग कभी नहीं होना चाहता । प्रेम वेदना की थाह सहृदय ही ले सकते हैं । जायसी का हृदय प्रेम-पीर को पहिचानने वाला था ।

जायसी की काव्य में अनुभावों की मधुर सरस व्यंजना हुई है और साथ ही वे नागमती के आँसुओं से धुल कर और भी निर्मल हो गये हैं । नागमती की विरहजन्य अभिलाषा अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँची है इतने उत्कर्ष पर जहाँ विरह-विदग्ध हृदय की करुणा-विगलित अभिलाषा अपनी पूर्ण मानवीयता के साथ सहृदयों को द्रवित कर देती है ।

'रातिहु दिवस इहें मन मोरे
लगौं कन्त छार जेउँ जोरे
× × ×
यह तन जारों छार के कहों की पवन उड़ाव
मकु तेहि मारग होइ परे कंत धरै जहाँ पाउ'[२]

---

[१] रामचंद्र शुक्ल, त्रिवेणी, पृष्ठ ६१ पर उद्धृत
इंतहाए लागरी से जब नजर आया न मैं ।
हँस के वो कहने लगे, विस्तर को झाड़ा चाहिए ।।

[२] जायसी, पद्मावत, पृष्ठ २६६, ३५२

कुछ सात्विक भावों की योजना भी मिलती है, 'अश्रु' तो हर जगह मिल जाते हैं। पूरा बारहमासा ही नागमती के 'रुदन रस' से लिखा गया है।

'रक्त के आंसु परे भुंई टूटी रेंगि चली जनु बीर बहूटी'[1]

'स्वेद' सात्विक भाव है।

'विरह बान तन लाग न डोली रक्त पसीज, भीज गई चोली'

वह वियोग में विरह शोक की अधिकता से संज्ञा विहीन सी हो गई है, सखियाँ चेत संभालने को कहती हैं।

'पाट महादेई। हिये न हारु समझ जीउ चित चेत सँभारु' [2]

नागमती विरह में 'वेपथु', 'विवर्णता' आदि सात्विक भावों की योजना मिलती है।

नागमती जब पक्षी से कहती है कि वह कुछ नहीं चाहती, वह तो केवल पति को देखना चाहती है। यह सच्ची सती की अभिलाषा है।

'मोहि भोग सो काज न बारी सोह दीठि की चाहनहारी'

जायसी ने भारतीय नारी के परम त्यागमय हृदय को पहिचाना था। यहाँ पर दुःखिनी नागमती का 'दैन्य' हृदय को द्रवित करने वाला है। 'उन्माद' की अवस्था में ही वह पेड़ों से तथा पक्षियों से अपना दुःख कहती फिरती है। विरह की 'व्याधि' इतनी तीव्र है कि नागमती पतिंगे के समान बन कर अमूझ पथ पर घूम रही है।

'बाट असूझ अथाह गंभीरी जिउ बाउर भा भवँ भमीरी' [3]

विरहजन्य अवस्था में चमकती हुई बिजली हृदय में 'त्रास' उत्पन्न करती है।

'खड़ग बीज चमकै चहुँ ओरा बिन्दु बान बरसैं चहुँ ओरा'

नागमती सपत्नी से 'ईर्ष्या' भी नहीं रखेगी यह भारतीय सती स्त्री का परम त्याग है।

---

[1] जायसी, पद्मावत, पृष्ठ २६४, ३४५

[2] जायसी, पद्मावत, पृष्ठ २६२, ३४३

[3] जायसी, पद्मावत, पृष्ठ २६४, ३४५

'सवति न होसि तू वैरिनि मोर कंत जेहि हाथ
आनि मिलाव एक वेर तोर पाँव मोर माथ'

अतः जायसी ने व्याधि उन्माद त्रास, दैन्य आदि संचारियों का प्रयोग किया है।

जायसी ने स्वकीया के पुनीत प्रेम को पहिचाना था, नागमती का विरह हिन्दी साहित्य में विप्रलंभ शृंगार का अत्यन्त उत्कृष्ट निरूपण है। विरह के भावों की भव्य और विपद व्यंजना हुई है। नागमती जब रत्नसेन के लिए सन्देश देती है उसमें केवल माँ का दुःख कहती है अपना नहीं। उसका विरह उस प्रणय का विरह है जो स्वयं जलना जानता है दूसरे तक उसकी लपट भी नहीं पहुँचने देना चाहता। जायसी ने नागमती के विप्रलंभ-वर्णन के लिए भारतीय वातावरण लिया है। उन्होंने विरह के वेदनात्मक अंश पर जितनी दृष्टि रखी है उतनी उसकी बाहरी नापजोख पर नहीं जो प्रायः 'उहात्मक' हुआ करती है। जायसी का विरह वर्णन मुसलमानी इश्कनामों जैसा नहीं है, इनके विरह वर्णन में बिहारी की नायिकाओं की सी अस्वाभाविकता भी नहीं मिलती जिनकी विरहाग्नि जाड़े के दिनों में पड़ोसियों को बेचैन कर देती है,[1] गाँव में लू चला देती है— शरीर पर रखे हुए कमलपत्रों को भून कर पापड़ बना देती है। जायसी ने उन्हीं पदार्थों का उल्लेख किया है जो वेदना का आभास देते है वाह्य मापदण्ड का नहीं। 'अतिशयोक्ति वाह्य नापजोख करती है और उत्प्रेक्षा अभ्यन्तर अनुभूति का परिचय देती है।' जायसी ने उपमा तथा उत्प्रेक्षा द्वारा यह बताने का प्रयास किया है कि नागमती को विरह पीड़ा हृदय में कैसी प्रतीत होती है। इनकी उपमा तथा उत्प्रेक्षाएँ मौलिक हैं। जायसी ने लोकभाषा का प्रयोग किया है जो अत्यन्त सरल, सरस और मार्मिक है— सूफी कवियों में मंझन को छोड़

---

[1] बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ११९, २८३
आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेहबस सखी सबै ढिग जाति॥

इनकी भाषा अन्य कवियों से अधिक परिमार्जित है। इनकी भाषा सूर, तुलसी, बिहारी, घनानन्द जैसी साहित्यिक नहीं है, उसमें लाक्षिणकता मिलती है पर उतनी उच्च साहित्यिक कोटि की नहीं है। इनकी भाषा इतनी सरल है कि इनका बारहमासा आज भी उत्तर प्रदेश के ग्रामों में औरतें गाती हैं। उन्होंने कहीं-कहीं कुछ शब्दों को अज्ञानवश बड़ा क्लिष्ट कर दिया है। उक्तियों का खूब प्रयोग किया है, विरह-उन्माद अभिव्यंजना में अतिशयोक्ति भी की है, लेकिन कहीं-कहीं पर विदेशी प्रभाववश है। 'आखर जरें काहू नहीं छूआ तब दुःख देखि चला लेई सूआ' ममनवी प्रभाव के कारण वीभत्स वर्णन भी किये हैं। इन उक्तियों में गांभीर्य बना हुआ है, अन्य कवियों के वर्णन की तरह मज़ाक की हद तक नहीं पहुँचा है। जायसी ने विरह वर्णन अधिकतर 'सादृश्य-संबंध-मूलक गौणी लक्षणा' द्वारा किया है।

विरह ताप की अधिकता सूचित करने के लिए मौलिक शैली का प्रयोग किया है। इसमें अप्रस्तुत वस्तुओं का गृहीत दृश्य वास्तविक होता है, 'हेतु कल्पित' होता है। हेतु की असत्यता प्रतीति में बाधा नहीं डालती। इसमें विरह ताप की व्यापकता इतनी बढ़ जाती है कि मानवीय दशाओं के साथ प्रकृति अथवा सृष्टि भी प्रतिसंवेदित और प्रभावित होती है। इन्होंने प्रचलित सुन्दर उक्तियों को अपनाया है।

नागमती का विरह वर्णन शुद्ध लौकिक वर्णन है। यदि उसे आध्यात्मिक दृष्टि से देखने लगते हैं तो उसकी सांकेतिकता नष्ट हो जाती है। सांकेतिक दृष्टि से उसे 'दुनिया-धंधा' कहा है जिस नागमती के दर्दमंद हृदय वर्णन के कारण हम जायसी को उनके द्वारा ही कथित 'जेहि के कौन विरह की छाया' उक्ति पूर्ण चरितार्थ पाते हैं। यदि उसी प्रेम विरह को 'दुनिया-धंधा' कहकर सांसारिकता या अस्थिर मान लें तो परम विरह में दीवाना होने वाले स्त्रियों को एकान्त हृदय समर्पण का पाठ पढ़ाने वाले जायसी जैसे संत कवि का आदर्श तिरस्कृत हो जाता है। हिन्दू स्त्री के जिस आदर्श प्रेम ने खुसरो से कहला

खुसरो प्रेम पथ में मुर्दे पति के साथ जान को गला देने वाली हिन्दू स्त्री से मत पिछड़' नागमती इस आदर्श से जरा भी नहीं पिछड़ी है और यदि उसे केवल लौकिक मान लेते हैं तो रूपक नहीं बैठता। इस प्रकार जायसी कथा के साथ रूपक सब जगह मेल नहीं बिठा सके हैं।

नागमती विरह वर्णन के साथ कवि ने सुन्दर प्रकृति-चित्र दिये हैं जो सहज स्वभाविक ढंग से आ जाने के कारण बड़े आकर्षक हैं।

'नागमती के विरह वर्णन' में मनोवैज्ञानिक चित्रण में सौन्दर्य निराला है। नागमती का विरह वर्णन, उसकी उन्माद दशा, संदेश आदि सभी विदग्धतापूर्ण भाषा में वर्णित है। कहीं-कहीं अस्वाभाविकता आ गई है– पुण्य नखत सिर ऊपर आवा, हौं बिन नाह मन्दिर को छावा। पर इसमें प्रमुखतः दैन्य और पतिनिर्भरता की व्यंजना अधिक महत्त्वपूर्ण है जिसे अतिरंजना करके दिखाने के शौक में जायसी अनर्थ कर बैठे हैं और सम्पूर्ण सुन्दर वर्णन में यह अलग और अस्वाभाविक सा लगने लगता है। मनोवैज्ञानिक विरह चित्रों में रस का सफल प्रदर्शन हुआ है। विरह में विरह-विदग्धा के हृदय की क्या दशा होती है उसका जायसी ने सफल चित्रण किया है।

नागमती का विरह वर्णन करके जायसी ने साहित्य में अभिनव प्रयोग किया बाद में तो साहित्य में इस प्रकार के विरह वर्णन की परिपाटी चल पड़ी।

• •

प्रेम की देवी

राधा



नागरि मनहि गई अरुझाई,
अति विरह तन भई व्याकुल घर न नेक(



आठ

'क्षणे-क्षणे नवता' को प्राप्त करने वाले राधा के व्यक्तित्व की रमणीयता ने शताब्दियों से आचार्यों को भक्ति, कवियों की वाणी को रस, गायकों के स्वरों को मधुरता और कलाकारों और शिल्पियों को सौन्दर्य दृष्टि दी है। संभवतः राधा का प्रथमतः आविर्भाव लोक-साहित्य में हुआ तत्पश्चात् शिष्ट (संस्कृत) साहित्य में उनके व्यक्तित्व को चित्रित कर साहित्यकारों ने सार्थकता प्राप्त की। श्रव्य और दृश्य दोनों प्रकार की रचनाओं में राधा रानी के अनुपम सौन्दर्य का चित्रण हुआ। एक ओर राधा के अतुलनीय प्रेम का वर्णन कर, भगवान् के साथ उनकी लीलाओं का चित्रण कर भक्त कवियों ने उनकी महिमा को अनुभव किया तो दूसरी ओर साहित्य के क्षेत्र में रूप, गुण, शील और औदार्य की ऐसी पूर्ण नारी मूर्ति साहित्य-जगत् में प्रतिष्ठित की गई है जैसी भौतिक और प्राकृत जगत् में मिलना असंभव है। इसलिये राधा 'भारतीय वाङ्मय के सरोवर में प्रस्फुटित होने वाली सर्वश्रेष्ठ

कनककंज-कलिका है।' 'काव्य की अधिष्ठात्री, भक्ति की निर्झरिणी है, कला की उत्स है और प्रेम की प्रतिमा है,[1] धार्मिक जगत् में राधा पराशक्ति का प्राकट्य है।' 'वह भगवान् की आह्लादिनी शक्ति है' रसेश्वरी है।' भारतीय भक्ति और अनुरक्ति की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। भारतीय साधना और आराधना की परिणति का नाम है राधा।[2] अष्टछाप कवियों के अविर्भाव तक राधा के धार्मिक और साहित्यिक दोनों रूप मिलकर एक हो गये।

दार्शनिक क्षेत्र में कृष्ण साक्षात् ब्रह्म और धार्मिक क्षेत्र मे विष्णु के अवतार माने जाते हैं। राधा दार्शनिक और धार्मिक क्षेत्र में ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति है। कृष्ण और राधा एक दूसरे के पूरक हैं। ब्रह्म-वैवर्तपुराण के अनुसार कृष्ण स्पष्ट रूप से राधा को अपना अर्द्धांश और मूल प्रकृति कहते हैं।

'ममार्द्धांशस्वरूपा त्वं मूलप्रकृतिरीश्वरी। कृष्ण और राधा दोनों में कोई भेद नहीं है जैसे दूध में धवलता है, अग्नि में दाहकता है, पृथ्वी में गन्ध है, जल में शीतलता का निवास रहता है उसी प्रकार कृष्ण अपनी मूल प्रकृति राधा में रहते हैं।[3] 'जैसे कुम्भकार मिट्टी के बिना घडा नहीं बना सकता वैसे ही कृष्ण राधा के बिना सृष्टि की रचना नहीं कर सकते। राधा सृष्टि का आधार है। कृष्ण अविनश्वर बीज रूप हैं।'[4]

सांख्यकार ने प्रकृति-पुरुष के संयोग से सृष्टि का विकास माना है। ब्रह्मवैवर्तपुराण[5] में राधा और कृष्ण को सृष्टि का मूल माना है। कृष्ण राधा एक दूसरे के पूरक माने गये हैं। साहित्य में राधा के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा और विकास कृष्ण की अपेक्षा बहुत समय पश्चात् हुआ।

---

[1] ले० बलदेव उपाध्याय, भारतीय वाङ्मय मे श्री राधा, पृष्ठ ३

[2] ले० बलदेव उपाध्याय, भारतीय वाङ्मय में श्री राधा, पृष्ठ ३

[3] ब्रह्मवैवर्तपुराण २७ वां अध्याय

[4] मुंशीराम शर्मा, भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृष्ठ [illegible]

[5] हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृष्ठ [illegible]



आठ

'क्षणे-क्षणे नवता' को प्राप्त करने वाले राधा के व्यक्तित्व की रमणीयता ने शताब्दियों से आचार्यों को भक्ति, कवियों की वाणी को रस, गायकों के स्वरों को मधुरता और कलाकारों और शिल्पियों को सौन्दर्य दृष्टि दी है। संभवतः राधा का प्रथमतः आविर्भाव लोक-साहित्य में हुआ तत्पश्चात् शिष्ट (संस्कृत) साहित्य में उनके व्यक्तित्व को चित्रित कर साहित्यकारों ने सार्थकता प्राप्त की। श्रव्य और दृश्य दोनों प्रकार की रचनाओं में राधा रानी के अनुपम सौन्दर्य का चित्रण हुआ। एक ओर राधा के अतुलनीय प्रेम का वर्णन कर, भगवान् के साथ उनकी लीलाओं का चित्रण कर भक्त कवियों ने उनकी महिमा को अनुभव किया तो दूसरी ओर साहित्य के क्षेत्र में रूप, गुण, शील और औदार्य की ऐसी पूर्ण नारी मूर्ति साहित्य-जगत् में प्रतिष्ठित की गई है जैसी भौतिक और प्राकृत जगत् में मिलना असंभव है। इसलिये राधा 'भारतीय वाङ्मय के सरोवर में प्रस्फुटित होने वाली सर्वश्रेष्ठ

कनककंज-कलिका है।' 'काव्य की अधिष्ठात्री, भक्ति की निर्झरिणी है, कला की रत्न है और प्रेम की प्रतिमा है,[1] धार्मिक जगत् में राधा पराशक्ति का प्राकट्य है।' 'वह भगवान् की आह्लादिनी शक्ति है' रासेश्वरी है।' भारतीय भक्ति और अनुरक्ति की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। भारतीय साधना और आराधना की परिणति का नाम है राधा।[2] अष्टछाप कवियों के अविर्भाव तक राधा के धार्मिक और साहित्यिक दोनों रूप मिलकर एक हो गये।

दार्शनिक क्षेत्र में कृष्ण साक्षात् ब्रह्म और धार्मिक क्षेत्र में विष्णु के अवतार माने जाते हैं। राधा दार्शनिक और धार्मिक क्षेत्र में ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति है। कृष्ण और राधा एक दूसरे के पूरक हैं। ब्रह्म-वैवर्तपुराण के अनुसार कृष्ण स्पष्ट रूप से राधा को अपना अर्द्धांग और मूल प्रकृति कहते हैं।

'ममार्द्धांगस्वरूपा त्वं मूलप्रकृतिरीश्वरी। कृष्ण और राधा दोनों में कोई भेद नहीं है जैसे दूध में धवलता है, अग्नि में दाहकता है, पृथ्वी में गन्ध है, जल में शीतलता का निवास रहता है उसी प्रकार कृष्ण अपनी मूल प्रकृति राधा में रहते हैं।[3] 'जैसे कुम्भकार मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बना सकता वैसे ही कृष्ण राधा के बिना सृष्टि की रचना नहीं कर सकते। राधा सृष्टि का आधार है। कृष्ण अविनश्वर बीज रूप हैं।'[4]

सांख्यकार ने प्रकृति-पुरुष के संयोग से सृष्टि का विकास माना है। ब्रह्मवैवर्तपुराण[5] में राधा और कृष्ण को सृष्टि का मूल माना है। कृष्ण राधा एक दूसरे के पूरक माने गये हैं। साहित्य में राधा के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा और विकास कृष्ण की अपेक्षा बहुत समय पश्चात् हुआ।

---

[1] डॉ० बलदेव उपाध्याय, भारतीय वाङ्मय में श्री राधा, पृष्ठ ३

[2] डॉ० बलदेव उपाध्याय, भारतीय वाङ्मय में श्री राधा, पृष्ठ ३

[3] ब्रह्मवैवर्तपुराण २७ वां अध्याय

[4] मुंशीराम शर्मा, भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृष्ठ १७६

[5] हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृष्ठ १३७

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी सूर-साहित्य पुस्तक में लिखा है कि जिस प्रकार वासुदेव और द्वारिकावासी कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति से उठकर परम दैवत के आसन पर पहुँचे हैं, राधा में इस प्रकार के ऐतिहासिक व्यक्तित्व का कोई लक्षण नहीं पाया जाता। गोपियों में तो यह है ही नहीं, फिर मज़े की बात यह है कि भागवत, हरिवंश और विष्णुपुराण आदि प्राचीन ग्रन्थ जो गोपाल कृष्ण कथाओं के उत्स हैं, उनमें भी राधा का नामोल्लेख नहीं पाया जाता।[1] लेकिन बाद की गौडीय विष्णु स्वामी लेखकों आदि के आधार पर की गई खोजों से पंडित बलदेव उपाध्याय ने विष्णुपुराण और भागवत में राधा का उल्लेख माना है।[2]

धार्मिक साहित्य में राधा

धार्मिक साहित्य में राधा के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा भागवतोत्तर साहित्य में पूर्णता से हुई है। भागवत में पूर्ववर्ती पुराणों की तुलना में कृष्ण महिमा अधिक गायी गई है और गोपी प्रेम इस पुराण में बहुत ही भव्य रूप में चित्रित हुआ है। इसमें राधा का स्पष्ट नामोल्लेख नहीं है लेकिन एक ऐसी विशेष गोपी का उल्लेख है जो भगवान् को सर्वाधिक प्रिय थी। हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार राधा का नाम तो नहीं पर 'एक गोपी' की चर्चा उस पुराण में ऐसी है जिसके अनुसार रास में किसी विशिष्ट गोपी के प्रति भगवान् का अधिक अनुराग व्यक्त हुआ था।[3] लेकिन पंडित बलदेव उपाध्याय ने विष्णुपुराण और भागवत में राधा का उल्लेख माना है और यहाँ तक कहा है कि श्रीमद्भागवत को राधा से नितान्त अपरिचित कहने का साहस किसी

---

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, सूर साहित्य, पृष्ठ १६

[2] बलदेव उपाध्याय, भारतीय वाङ्मय में श्री राधा, पृष्ठ १५

[3] हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृष्ठ १३०

भी विज्ञ आलोचक को नहीं होना चाहिये।[1] उन्होंने अपने भारतीय वाङ्मय में श्री राधा ग्रन्थ में इस मान्यता के लिये बहुत से तर्क भी दिये हैं लेकिन एक स्थल पर यह कह कर कि :-

भागवत के 'अनयाराधितो नूनं' श्लोक में राधा के नाम का संकेत निकालना गौडीय वैष्णव गोस्वामियों की प्रतिभा का विलास प्रतीत होता है.........इस श्लोक की व्याख्या में श्री सनातन गोस्वामी ने राधा के नाम निर्देश की जो बात कही है, वह एकदम अपूर्व है। ....इस प्रच्छन्न निर्देश के ऊपर हम कोई ऐतिहासिक तथ्य खड़ा नहीं कर सकते।' उन्होंने अपने विचार को अनुमान तक सीमित कर दिया है। उन्होंने तो ऋग्वेद और सामवेद के एक मन्त्र के 'राधानापते' शब्द के आधार पर राधा को राधः या राधा का व्यक्तिकरण बताया है।[2] जो भी हो यह अब सभी मानने लगे हैं कि भागवत की सर्वाधिक प्रिय विशेष गोपी राधा ही थी। इस पुराण में एक स्थान पर जब रासलीला के पश्चात् कृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं तब गोपियाँ उन्हे *ढूँढती हैं और कृष्ण के पदचिह्नों के साथ ही उन्हें नारी के पदचिह्न* भी दिखाई देते हैं। वे कह उठती हैं कि उसने (विशेष गोपी ने अर्थात् राधा ने) अवश्य ही भगवान् की आराधना की है, तभी तो हमें छोड़कर कृष्ण प्रेमपूर्वक उसे एकान्त म ले गये हैं।

'अनयाराधितो नून भगवान् हरिरीश्वर.' यही 'विशेष गोपी' आगे चलकर राधा नाम से प्रसिद्ध हुई। पंडित बलदेव उपाध्याय का यह कथन अविश्वसनीय नहीं कि श्रीमद्भागवत में राधा का नाम झीने चादर से ढके हुए किसी गूढ बहुमूल्य रत्न की तरह स्पष्ट झलकता है।[3] पद्मपुराण तो राधा के सबंधित प्रसंगों से भरा पड़ा है। आचार्य

---

[1] ले० बलदेव उपाध्याय, भारतीय वाङ्मय में श्री राधा, पृष्ठ १५

[2] ले० बलदेव उपाध्याय, भारतीय वाङ्मय में श्री राधा, पृष्ठ ११, १२, १३

[3] भागवतपुराण; १०, ३०, २४

हजारीप्रसाद द्विवेदी पद्मपुराण में राधा-कृष्ण की नित्यविहार चर्चा को परवर्ती वताते हैं ।[१] इस पुराण में राधिका को कृष्णवल्लभा कहा है ।

वे मूल प्रकृति हैं और उस प्रकृति की अंशरूपिणी नाना गोपियाँ हैं। इस पुराण में ही 'राधिका समा नारी न कृष्णसदृशः पुमान्' कह-कर राधा कृष्ण की अद्वितीयता भी प्रमाणित की है। नारद पंचरात्र में राधा कृष्ण की वामांगी के रूप में प्रतिष्ठित है ।[२] मत्स्यपुराण, वायुपुराण, वराहपुराण में भी राधिका का उल्लेख है। ब्रह्मवैवर्तपुराण-कार ने राधा के व्यक्तित्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की है। इस पुराण के संवंध में कठिनाई यह है कि इसका प्राचीन रूप उपलब्ध नहीं है। श्री योगेशचन्द्र राय और श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी इस पुराण को प्राचीन नहीं मानते हैं ।[३]

फिर भी वंगीय वैष्णव धर्म को माधुर्यपूर्ण वनाने का श्रेय इसी पुराण को है । आगे चलकर जयदेव ने इसी नवीन वैष्णव धर्म से प्रेरित हो गीतगोविन्द की रचना की और फिर तो राधाकृष्ण की लीला सम्वन्धी रचनाओं की वाढ़-सी आ गई। इस पुराण में राधा को मूल रूप में सांख्य की प्रकृति तो माना ही है ।

राधाकृष्ण के विवाह का भी विस्तृत वर्णन किया गया है । राधा विरह का विस्तार से वर्णन [४] और उनके विरह उद्‌गार सुनकर उद्धव का भक्ति-विह्वल होना एवं राधा और गोपियों के प्रेम के सामने अपने प्रेम को तुच्छ अनुभव करना भी चित्रित किया है । उद्धव कहते हैं—

---

[१] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद्मपुराण में राधा कृष्ण की नित्य-विहार चर्चा को परवर्ती वताते हैं ।

[२] 'तत्प्रिया प्रकृतिस्त्वाद्या राधिका कृष्णवल्लभा ।
तत्कला कोटि कोट्यंशा दुर्गाद्यास्त्रिगुणात्मिका ।।
तस्या अङ्घ्रिरजः स्पर्शात् कोटि विष्णुः प्रजायते'

[३] हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृष्ठ १३०, १३१

[४] ब्रह्मवैवर्तपुराण, अध्याय १५

'धन्य है जम्बू द्वीप और जम्बू द्वीप में भारतवर्ष, जो गोपियों के चरणकमल की रज से पवित्र है। गोपियाँ भी धन्य हैं जो राधा के पुण्य चरणकमलों का दर्शन करती हैं। मैं भी धन्य हूँ।'

राधा के शृंगारी व्यक्तित्व की जो प्रतिष्ठा आगे चलकर अष्ट-छाप के कविशिरोमणि सूर ने की है उसकी प्रेरणा उन्हें इस पुराण से ही मिली है। जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास भी अपनी रचनाओं में राधा के शृंगारी रूप की प्रतिष्ठा के लिए इस पुराण के ऋणी हैं।

उपनिषदों में दो उपनिषद् राधा से संबंधित हैं। एक है राधोपनिषद् और दूसरा राधिकातापनियो उपनिषद्। राधोपनिषद् मे राधाकृष्ण की 'परमान्तरंगभूता ह्लादिनी शक्ति बताई गई है', राधिकातापनीय उपनिषद् में राधा की महिमा को चरम सीमा पर पहुँचाया है।[1] विश्वभर्ता श्रीकृष्ण प्रेम से आर्द्र होकर जिनकी पद-धूलि अपने मस्तक पर लगाते हैं, जिनके प्रेम में निमग्न होकर उनकी वंशी छूट जाती है, बिखरी अलको की सुधि नही रहती तथा वे क्रीतदास की तरह जिनके वश में सदा रहते हैं, उन राधिका को हम नमस्कार करते हैं।[2] ये दोनों उपनिषद् बहुत बाद के हैं। इनसे पहले वैष्णव धर्म पूर्णतः फैल चुका था।

---

[1] बलदेव उपाध्याय, भारतीय वाङ्मय में श्री राधा, पृष्ठ [illegible]
राधा की व्युत्पत्ति राध धातु से है–
'कृष्णेन आराध्यते इति राधा। कृष्णं [illegible]
सदा इति राधिका।'
[अर्थात् कृष्ण के द्वारा जो आराधित है [illegible] है तथा कृष्ण की सदा आराधना करने वाली [illegible] है।]

[2] बलदेव उपाध्याय, भारतीय [illegible],
पृष्ठ [illegible] पर [illegible]
यस्य रेणुं पादयोर्विश्वभर्ता [illegible]
स्रस्तवेणुः कबरीं न स्मरेद्, [illegible]

इन पुराणों और उपनिषदों के अतिरिक्त रूप गोस्वामी, जीव-गोस्वामी, कविराज गोस्वामी आदि ने राधा के विकासक्रम पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। जीवगोस्वामी ने 'ब्रह्मसंहिता' की टीका में राधा की स्थिति मत्स्यपुराण में मानी है। रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' में कहा कि 'गोपालोत्तरतपिनी' उपनिषद् में राधा गान्धर्वी के नाम से विश्रुत है और व्रज-स्त्रियों में श्रेष्ठ बताई गई है। ऋक्परिशिष्ट में राधा का माधव के साथ उल्लेख है। अपनी उज्ज्वल नीलमणि पुस्तक में ही राधा का उल्लेख उन्होंने तन्त्रों में भी प्रमाणित किया है।

'ह्लादिनी जो महाशक्ति है, जो सर्वशक्तिवरीयसी है, वही राधा तत्सारभावरूपा है।'

जीवगोस्वामी तथा कृष्णदास कविराज ने वृहद् गौतमीय तन्त्र में राधा का उल्लेख खोज निकाला है। जीवगोस्वामी ने राधा का उल्लेख सम्मोहन तन्त्र में ढूंढ़ निकाला है।

साहित्य में राधा

इन सब धार्मिक ग्रन्थों में राधा के स्वरूप को जान लेने के पश्चात् यह सिद्ध होता है कि धार्मिक ग्रन्थों में राधा के उल्लेख से पहले कृष्ण-प्रिया राधा का उल्लेख हाल द्वारा लिखित गाथासप्तशती में मिलता है जो प्रथम शताब्दी की रचना है। विष्णुपुराण और भागवतपुराण में राधा का स्पष्ट उल्लेख नहीं है जो इससे प्राचीन रचनाएँ हैं। रास पंचाध्यायी में भी राधा का उल्लेख नहीं है जो भागवत का सार माना जाता है। गाथासप्तशती के एक श्लोक में राधा का वर्णन इस प्रकार है –

'मुहमारुएण तं कह्न गोरअं रहिआएं अवणेन्तो।
एताणं वलवीणं अण्णाणं वि गोरअं हरसि।'

(गाथासप्तशती १।२६)

हे कृष्ण, तुम राधा के मुख पर की गोधूलि अपने मुँह की हवा से (फूंक मारकर) दूर कर इस व्यवहार से दूसरी स्त्रियों के अभिमान का

अपहरण करते हो या गौरव का हरण करते हो। गाथासप्तशती की बहुत सी शृंगारी गाथाएँ आध्यात्मिकता का बाना पहन कर सब जगह अनेक रूपों मे प्रचलित हो गईं। एक उदाहरण –

'हत्येसु अ पाएसु अ अंगुलि गणणाई अइगआदिअहा।
एण्हिं उण केण गणिज्जउत्तिमणिऊ रुअइ मुद्धा॥'

गाथासप्तशती ४।७

'प्रिय के विरह मे दिन गिनते-गिनते हाथ पैर की अगुलियाँ समाप्त हो गईं जिनके सहारे वह दिन गिना करती थी। अब वह किस तरह दिनों को गिनेगी इसी विचार से चिन्तित होकर वह मुग्धा रो रही है।'

लोकसमाज मे प्रचलित कृष्ण और राधा गाथासप्तशती के माध्यम से साहित्य क्षेत्र मे आ गये। सस्कृत आचार्यो की खोज के अनुसार कालिदास की रचनाओ में राधा का नामोल्लेख न होना इस बात को प्रमाणित करता है कि साहित्य मे राधा का प्राकट्य कालिदास के बाद और सातवाहन से पहले हुआ। जो परपरा गाथासप्तशती से आरम्भ हुई थी वह इस मध्ययुग मे अक्षुण्ण रूप से विद्यमान रही। पाँचवीं सदी की रचना पंचतन्त्र मे राधा का नाम एक कहानी[1] मे आया है। इससे ज्ञात होता है कि लोक-साहित्य की परम्परा मे राधा को *नारायण (श्रीकृष्ण) की भार्या होना* प्रचलित था। नवमी सदी मे

[1] इस कहानी में तन्तुवाय के पुत्र कृष्ण जब मित्र की सहायता से गरुड पर चढ़े हुये राजा के अत.पुर मे पहुँचते हैं तो चार भुजाओ तथा आयुधों से युक्त उस व्यक्ति को नारायण समझ कर राजपुत्री कहती है – कहाँ मैं अपवित्र मानुषी और कहाँ आप त्रैलोक्यपावन महाप्रभु। इस पर कौलिक कहता है, "तुम तो उचित बात कह रही हो, परन्तु सत्य यह है कि राधा नामकी कन्या जो गोपकुल मे उत्पन्न हुई थी वह मेरी भार्या थी। वही तुम्हारे रूप मे अवतीर्ण हुई है। इसलिये मेरा प्रेम तुम्हारे लिये स्वाभाविक है।"

आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा लिखित ध्वन्यालोक में अनेक उदाहरण दिये गये हैं जिनमें राधा का नाम आया है। उदाहरण के लिये ध्वन्यालोक से लगभग सौ वर्ष पहले लिखे गये भट्टनारायण के वेणीसंहार नाटक (७५० के आसपास की रचना) के नान्दी में से कुछ उद्धृत श्लोकों को देखा जा सकता है जिनमें राधा-लीला का वर्णन है। इसके अतिरिक्त त्रिविक्रम नलचम्पू, दशवीं शताब्दी के कवीन्द्र वचन समुच्चय, भोजराज के सरस्वती-कंठाभरण, हेमचन्द्र के काव्यानुशासन, सदूक्ति-कर्णामृत, दसवीं सदी के भोज्जल कविकृत राधा विप्रलम्भ नामक नाटक, शारदातनय के भाव प्रकाशन में उद्धृत रामाराधा नामक नाटक, कवि कर्णकूट रचित अलंकार कौस्तुभ में राधा सम्बन्धी कन्दर्पमंजरी नाटक, नाटक लक्ष्मण कोष में निर्दिष्ट राधा नामक वीथी आदि अनेक ग्रन्थों का प्रसंग मिलता है जिससे राधा-माधव प्रेम-कथा का प्रचार साहित्य के छठी शताब्दी के पूर्व भी अनुमान किया जा सकता है।

परवर्ती साहित्य में राधाकृष्ण-साहित्य, जयदेव का गीतगोविन्द, लीलाशुक, विल्वमंगल, कृष्ण कर्णामृत, उपमति, लक्ष्मणसेन के पुत्र केशवसेन, आचार्य गोपक शतानन्द कवि, चण्डीदास और चैतन्यमहाप्रभु के राधाकृष्ण सम्बन्धी पद उल्लेखनीय हैं।

जयदेव की राधा

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विद्यापति के साहित्य-क्षेत्र में आगमन से पहले साहित्य में राधा का स्वरूप प्रतिष्ठित हो चुका था। राधा के इस शृंगारिक-व्यक्तित्व को साहित्य में प्रतिष्ठित करके लोकप्रिय बनाने का श्रेय ११वीं शताब्दी के संस्कृत कवि जयदेव को है जिन्होंने राधा के आध्यात्मिक व्यक्तित्व को साहित्य के क्षेत्र में मानवी रूप में प्रतिष्ठित किया। गीतगोविन्द के प्रारम्भ में ही हम सुन्दर वातावरण में राधा से परिचित होते हैं। वसन्त का सुहावना समय है, मलय मारुत ललित लवंगलता के परिशीलन से कोमल हो गया है, कुंज कुटीर में भौंरों का समूह गुंजार कर रहा है, कोकिल कूज रही

है यह विरहिणियों के लिए बड़ी ही दारुण परिस्थिति है।[१] ऐसी ही स्थिति में सुकुमारी राधा कृष्ण को खोजते-खोजते थक गई है, प्रेमाधिक्य से कातर हो उठी है और सखी द्वारा बताये जाने पर जब कृष्ण का पता उसे मिलता है तो अन्य ब्रज-बालाओं के प्रेमी रूप में। जयदेव की राधिका अनन्य प्रेमिका है। उन्हें ऐसी स्थिति में भी न ईर्ष्या होती है, न क्रोध में कहती हैं कि क्या हुआ अगर वह बहु-वल्लभ हैं, क्या हुआ वे प्रेम की चिन्ता नहीं करते – हम तो उन्हीं की हैं। राधा कृष्ण के विरह में दुखी, कातर, कृश हो गई है। विरहोन्माद से कभी मूर्च्छित और कभी चेतन हो पीड़ित होती है। उन्हें वेदना के कारण मरण की आशंका हो गई है। अन्ततः सखी द्वारा राधा का विरह उन्माद[२] और अनन्यता को जानकर कृष्ण भी उसी दशा को प्राप्त होते हैं। जयदेव ने राधा का पूर्वानुराग की अवस्था का विरह ही दिखाया है। उनकी राधा अत्यन्त कोमलहृदया एव भावुक है, क्षण भर मिलन विलंब में जिनका हृदय फटने लगता था, वे कृष्ण के मथुरा चले जाने पर न जाने उनकी क्या दशा होती इसीलिए जयदेव ने कृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद के राधा-विरह को चित्रित नहीं किया।

'इसीलिए हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि इस मृणाल-तन्तु को जयदेव ने प्रखर ग्रीष्म के ताप में न रखकर अच्छा ही किया है – अच्छा ही किया है।[३]

---

१ 'ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुंजकुटीरे
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते।

२ 'सा विरहे तव दीनां, माधव मनसिज विशिखभयादिव भावनया त्वयि लीना।'

३ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्मसाधना, गीतगोविन्द की विरहणी राधा पृष्ठ, १६६

१४वीं शताब्दी में निम्बार्क और विष्णु स्वामी ने राधा के शृंगारिक रूप में अलौकिकता का समावेश करके उसे फिर से धार्मिक रूप दिया।[1] आगे चल कर इन्हीं के प्रभाव से अष्टछाप कवियों ने राधा की केलि-क्रीड़ाओं को प्रतिकार्थ देकर वैष्णव भक्ति में राधा के महान् व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित किया।

विद्यापति की राधा

संस्कृत के जयदेव के अनन्तर मैथिल काव्य में राधा-कृष्ण की केलि का वर्णन अन्य प्रान्तीय काव्यों की अपेक्षा प्राचीन प्रतीत होता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने मैथिल के कवि उमापति को हिन्दी वैष्णव पदावली का आदि रचयिता माना है लेकिन लोकप्रिय एवं प्रमुख महाकवि विद्यापति ही हुए। विद्यापति की राधा सुन्दरी, यौवन भार से युक्त, रूप की कांति से देदीप्यमान है। उनके रूप को देख कृष्ण उनसे मिलने के लिए व्याकुल हैं।

'देख देख राधा रूप अपार।
अपरूप के विहिआनि मिलाओलखितितल लावनिसार॥'

विधाता ने ऐसी अनुपम सुन्दरता का सार कहाँ से लाकर इस पृथ्वीतल पर एकत्र कर दिया है। पदावली का प्रारम्भ ही ऐसे पद से हुआ है जिसमें कृष्ण राधा की प्रतिक्षा में व्याकुल हैं।

'सामरि तेरा लागि।
अनुखन विकल मुरारी॥'

विद्यापति की राधा अज्ञातयौवना और भोली है।

---

[1] श्री बलदेव उपाध्याय, भारतीय वाङ्मय में – श्री राधा, पृष्ठ ७२ (वेदान्त कामधेनु श्लोक, ५) 'वृषभानु की आत्मजा, अर्थात राधा भगवान् श्रीकृष्ण के वाम अंग में विराजती है। वह समस्त कामनाओं और इच्छाओं को देने वाली है। श्रीकृष्ण के अनुरूप ही उनका सौन्दर्य तथा सौभाग्य है तथा वह हजारों सखियों द्वारा सदा सेवित है।'

'वचन चातुरि हम किछु नहिं जान, इंगितन जानिए न बूझिए मान ।
से वरनागर रसिक सुजान, हम अवला अति अलपगेआन ।।'

उनका वय संधि का सौन्दर्य अनुपम है । विद्यापति ने क्रमशः नायिकाभेद के विभिन्न रूप राधा के व्यक्तित्व में दर्शाए हैं । कृष्ण से मिलने का अवसर आया तो मुग्धा राधा कुछ नही कह सकी । यौवनोन्मादिनी राधा मुग्धा ही रहीं लेकिन मिलन हुआ तो राधा की विचित्र दशा हो गई ।

'अवनत आन कए हम रहिवहुवारललोचन चोर
पिया मुखरुचि पिवए धाग्रोल जनिमे चाँद चकोर
न तहु सम्रो हठे हठिमोमे आनल धाएल चरन राखिर
मधुक मातल उड़ई न पायए ताइम्रो पसारए पाँखि ।'

विद्यापति ने कृष्ण के सुदूर प्रवास के प्रसंग का भी वर्णन किया है । राधा अपनी सखी द्वारा कृष्ण को रोकने का प्रयास करती है । अन्त में स्वयं ही अपनी विरह दशा का वर्णन कर कृष्ण को रोकना चाहती है । लेकिन रोती विलखती और अत में मूच्छित राधा को छोड़कर कृष्ण चले जाते हैं । तब राधा विलाप करती है कि क्यों तो कृष्ण से मिलन हुआ और यदि मिलन हुआ तो क्यों विछोह हो गया ।

'कबहु रसिक सय दरसन होय जनु, दरसन होय जनु नेह ।
नेह विछोह जनु काहुक उपजए, विछोह धरए जनु देहा ।'
सजनी दूर करु ग्रो परसग ।[1]

वह अपनी समझ को कोसती है कि कृष्ण ने जब मथुरा जाने को कहा तो क्यों नही योगिनी बन कर उनके साथ चली गई ।

'कालि कहल पिया ए साझ हिरे
हृदय जड़ दारुण रे पिया विनु
विहरि न जाय ।'

भोली राधिका कर्मरत, दूर देश मे रहने वाले नागर की कुशल-कामना करती है, संदेश की आशा में प्रतिक्षारत रहती है । जीवन उन्हे मरण

[1] विद्यापति पदावली, पृष्ठ २४६, पद ५१

समान लगता है।[१] दिन गिनते-गिनते उनके नख भी घिस गये हैं। कभी प्रकृति के मिलन दृश्यों को देखकर आशा बाँधती है लेकिन यथार्थ फिर उन्हें निराशा में डुबा देता है। विभिन्न ऋतुएँ पिया विना दुखदायिनी हो गई हैं। विद्यापति की राधा का प्रेम अष्टछाप के कवियों की राधा के समान एकपक्षीय नहीं है। दूत के द्वारा संदेश पा कृष्ण अन्य रमणियों और राज-संपदा के होते हुए भी अपने को वैरागी समझते हैं।

'रामा हे से किम विसरल जाई।
आन रमनि संगे राज संपद, भोगे आछिय जैसे वैरागी ॥'

अन्त में कृष्ण भी उस वाग्विदग्धा की सुध में व्याकुल रहते हैं। वे कठिन पौरुष और कर्तव्य के कारण चले तो आये पर उनका चित्त वहीं रह गया।

'कठिन कलेवर तेजि चलि आयल चित्त रहल सोई ठामा'

कवि विद्यापति ने राधा-कृष्ण को सामान्य नायक-नायिका के रूप में चित्रित किया है। इसीलिए इनमें वासना का प्रखर रंग भरा है।

विद्यापति की राधा को [२] डॉ. रामकुमार वर्मा और देशराजसिंह भाटी ने वासनामयी माना है लेकिन विद्यापति की राधा सामान्य मानवी। है कवि को विश्व के शृंगार में राधा और कृष्ण की ही मूर्तियाँ दिखाई देती हैं। यही कारण है कृष्ण यौवन उन्मत्त नायक की भाँति

---

[१] 'एखन - तखन करि दिवस गमाओल
दिवस-दिवस करि मास
मास मास करि बरस गयाओल
छोडलुं जीवनक आस'

[२] डॉ० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ ५०६, 'विद्यापति का संसार ही दूसरा है। वहाँ सदैव कोकिलाएँ ही कुंजन करती हैं। फूल खिला करते हैं पर उनमें कांटे नहीं होते। राधा रातभर जागा करती है। उसके नेत्रों में ही रात समा जाती है। शरीर में सौन्दर्य के सिवाय कुछ भी नहीं है। पथ है उसमें भी गुलाब है, शैया है उसमें भी गुलाब है, शरीर है उसमें भी गुलाब। सारा संसार ही गुलाबमय है।'

चित्रित हुए हैं और राधा यौवन की मदिरा में मतवाली एक मुग्धा नायिका की भाँति। कवि ने उनके रूप रंग शोभा और बाह्य प्रेमावर्षण का वर्णन जमकर किया है। उनका यह रूप विलास एवं भावनाएँ सब कृष्ण के लिये हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'विद्यापति ने राधिका की जिस प्रेममयी मूर्ति की कल्पना की है विलास कलावती किशोरी का रूप स्पष्ट ही प्रधान है पर सर्वत्र उस विलास के पीछे यह भावना छिपी हुई है कि प्रिय इससे प्रसन्न हों। राधिका का रूप भगवान् के लिये है, विलास भी भगवान् के लिये है—एक शब्द में उन्होंने भगवान् को सन्तुष्टि के लिये ही विलास कलावती का रूप धारण किया है।'

उन्होंने डॉ॰ वर्मा और अन्य आलोचकों के मत का खण्डन करते हुए कहा है 'मगर यह कहना कि विद्यापति की राधिका में शरीर सौन्दर्य ही प्रधान है, अन्याय है—असल बात यह है कि राधिका की सारी शरीर चेष्टाओं के भीतर भगवान् को सन्तुष्ट करने की भावना है। यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि आराध्य की सन्तुष्टि के लिये अपना सर्वोत्तम भेंट कर देना मानस सौन्दर्य की पराकाष्ठा है।' उनका यह रूप विलास और भावनाएँ सब कृष्ण के लिये हैं।[1]

राधा भावुक नारी है।[2] उन्होंने जीवन भर अपने को प्रेम सरोवर

---

[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृष्ठ १८७

[2] डॉ॰ रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ ५०६, 'कृष्ण और राधा साधारण पुरुष नहीं हैं। राधा सरिता के समान है जिसमें भावनाओं की तरंग उठा करती है। राधा स्त्री है, केवल स्त्री है और उसका अस्तित्व भौतिक संसार ही में है। उसका बाह्य रूप जितना अधिक आकर्षक है उतना आन्तरिक नहीं। बाह्य सौन्दर्य ही उसका सब कुछ है, कोमलता ही उसका स्वरूप है। मानों सुनहले स्वप्न मनुष्य के रूप में अवतरित हुए हैं—उसकी चितवन में कामदेव के बाण हैं, पांच नहीं वरन् [illegible] में छूटे हुए सहस्र बाण।

में डुबा रहा है। वियोग की दशा में भी सखी से कहती है वही प्रीति है, वही अनुराग है, जो क्षण-क्षण में नूतन होता है।

सखि की पूछसि अनुभव मोय।
से हो पिरीति अनुराग बखानत,
तिले तिले नूतन होय।

इसीलिये सखी से सूचना पाकर कि माधव दो चार दिन में आने वाले हैं, पहिले तो उसका मन विश्वास नहीं करता [1] फिर नई कल्पनाओं और आकांक्षाओं से भर जाता है। कभी स्वागत में मोतियों का चौक पूरने का निश्चय करती है तो कभी मान का।[2]

विद्यापति ने राधाकृष्ण के पुनर्मिलन के प्रसंग का वर्णन किया है। राधा कृष्ण को देखकर वसंत ऋतु में अनुभूत वियोग का दारुण दुःख को भूल गई है और प्रिय मुखचन्द्र देखकर उन्हें दसों दिशाएँ आनन्दमय दिखाई देने लगी हैं।[3] और वे सब मान भूल कर 'क्षणे-क्षणे नवता' वाली प्रीति में निमग्न हो जाती हैं। कृष्ण की अनोखी प्रीति से विदग्ध कोमल प्रेममयी राधिका की कल्पना में विद्यापति ने अपूर्व चमत्कार दिखाया है।

---

[1] विद्यापति पदावली –
सजनि के कह आओब मधाई
विरह पयोधि-पार किये पाओब
मुझ मन नहिं पतिआइ ।।

[2] विद्यापति पदावली–
आंगने आवत जब रसिया
पलटि चलब हम ईषत् हँसिया
रस नागरि रमनी
कतक क जुगति मनहि अनुमानी
आगे आंचर पिया धरबे
जाबब हम यतन बहु करबे।

[3] कि कहब हे सखि आनन्द ओर चिर दिने माधव मन्दिरे मोर
दारुन वसंत यत दुःख देल पिया मुख हेराइत सब दुःख गेल!
आजु रजनी हम भागे गमावल पेखल पिय मुख चंदा।
जीवन यौवन सफल करि मानल दश दिश भेल निरदंदा ।।

चण्डीदास की राधा

साहित्य मे राधा के प्रेममय व्यक्तित्व को उभारने में बंगाल के वैष्णव कवि चण्डीदास का भी हाथ है। जिस युग में मैथिल में विद्यापति राधा के भोले व्यक्तित्व के गुण गा रहे थे उसी समय चण्डीदास वंगला साहित्य में राधा की भोली और भव्य प्रतिमा का अपने भावों से शृंगार कर रहे थे। चण्डीदास की राधा की प्रत्येक बात से भोलापन टपकता है, मैथिल कवि की राधा का प्रारम्भिक रूप भी इसी प्रकार का है, लेकिन चण्डीदास की राधा सदा सरल और भोली ही रही। वे बिना जाने ही प्रीतिवश हो गई हैं, अब वे किसे दोष दें।

वंधु काहारे बादिबो दोष।
ना जानिया यदि करेछि पीरित कहारे करिव रोष।

नवल-किशोरी मधुर-मूर्ति राधा इतनी प्रेम निमग्न हैं कि उन्हें कृष्ण दर्शन के बाद कुछ नही सूझता, उनके अन्तर में निरन्तर व्यथा जगी रहती है। वे योगिनी सी हो गई हैं।

आगो राधार कि हल अन्तरे व्यथा,
वसिया विरले थाकइ एकले न शुने काहरो कथा।
सदा धेयाने चहि मेघ पाने न चले नयन तारा
विरति आहारे रांगा वास करे, येन योगिनीर तारा।

राधा गंभीर भाव से प्रेम मे तल्लीन है कि वे संयोग में भी वियोग की आशंका से दुखी है। अनन्य प्रेम की यह पराकाष्ठा है।

एमन पिरीत कभु देखि नाइ शुनि
पराणे पराणे बांधा आपनि आपनि
दुहुँ कोड़े दुहुँ कांदि विच्छेद भाविया
तिल आध न देखिले याय से मारिया।[1]

---

[1] ऐसी प्रीत तो इस जगत् मे कभी नही देखी है दोनों के अपने आप एक दूसरे से बँध गये हैं।

सखियों से जब कृष्ण के मथुरा प्रयाण का समाचार मिला तो उस विश्वासपरायणा ने दारुण वाणी में विरोध किया। उसने कहा हृदय में बसने वाला प्रिय बिना हृदय चीरे बाहर कैसे जा सकता है।

ए बुक चिरिया जबे बहिर करिया दिब
तबे त श्याम मधुपुरे याबे

लेकिन कर्त्तव्य पालन के लिये कृष्ण ने मथुरा गमन किया। कृष्ण विरह में राधा की विरह अवस्था अत्यन्त कारुणिक है। उन्हें कृष्ण प्रीति और विरह उस शंखवणिक् के आरे के समान जान पड़ते हैं (जिससे वह चूड़ियाँ बनाता है)। यह आरा आते और जाते दोनों ओर से काटता है। कृष्ण प्रेम को याद करने से हृदय फटता है और उसे वे भुला भी नहीं सकतीं।

श्यामेर पिरीत स्मरित विषम भुलिते परान फाटे।
शांख वणिकेर करात ये मति आसिते जाइते काटे।।

राधा प्रत्येक पल कृष्ण को स्मरण करती है। कभी सोचती है कि चंदन आदि से अब किसका शृंगार करूँगी? कभी प्रकृति को देखकर दुखी होती है कि प्रकृति आनन्द उल्लास से पूर्ण है और कृष्ण उनकी सुधि ही नहीं लेते। वे कलप कलप कर मर रही हैं ठीक वैसे ही जैसे भूसे की आग में जलने वाला जीव। हँसते हँसते प्रीत की थी अब रोते-रोते जीवन बीत रहा है।

सइ, के जले पीरिति भाल।
हासिते हासिते पीरित करिया
कांदिते कांदिते जनम गेल
× × ×
तुषेर अनल येन साजाइया
एमति पुड़िया मरे।

चण्डीदास की राधा विलासवती न होकर भक्ति की साक्षात प्रतिमा है। कृष्ण विरह में उनकी मरणासन्न स्थिति हो गई है। ऐसे समय में वे अपनी चिन्ता न कर सखियों से कृष्ण द्वारा लगाई हुई बेल को सींचने के

लिये ही प्रार्थना करती हैं। सखियों से जब यह आश्वासन मिलता है कि वे कृष्ण को ले आयेंगी तो कातर भाव से कहती हैं कि ब्रह्मा ने सब आकांक्षाएँ व्यर्थ कर दी हैं अतः कृष्ण के मन को परख कर कुछ ऐसा करना जिससे वे अवश्य आयें।

'सखि. बुझिया कानुर मन
येमेन करिले आइसे से जने द्विज चंडीदास मन।'

अनुरागवती राधा अपने जीवन-मरण के साथी कृष्ण से प्रार्थना करती है कि जन्मजन्मान्तर में तुम्ही मुझे पति रूप में मिलना।

जीवन मरण जनमे जनमे प्राणनाथ हैश्रो तुमि।

तीनों भुवन में तुम्हारे सिवाय मुझे प्रेम से राधा कहने वाला कोई नही।

"राधा" बलि केह सुधाइ ते नाइ
दाड़ब काहार काछे॥

राधा कृष्ण को ही कुल, शील, जाति और मान मर्यादा का संरक्षक मानती हैं। वे अच्छाई बुराई सहित कृष्ण के चरणों में समर्पित हैं।

प्रिया की दारुण अवस्था से कृष्ण का मन पसीज जाता है। वे सखी से कहते हैं – देखते, बैठते, गाते, खाते हर स्थिति मे मुझे राधिका दिखाई देती है। मैं अवश्य वृन्दावन आऊँगा। कृष्ण आगमन पर चण्डीदास की राधा भौतिक विलास और शृंगार कला में निमग्न नही होती और न मान की कल्पना ही करती है वरन् जब कृष्ण लौटे तो राधा ने उनका शृंगार-पूजन किया। और उनके मुखचन्द्र का चकोरी की भांति दर्शन करने लगी।

कानुर श्रीमुखयेन शशधर येमेन पूर्णिमार शशी
राइ से चकोर पाइ निरन्तर पिवइ अमृत राशि॥

मिलन में भोग की भावना के स्थान पर आत्मसमर्पण की भावना है। विद्यापति की राधा मे जहाँ शिशुता है, जीवन के लौकिक सुखों की ओर अनुरक्ति है, वहाँ चण्डीदास की राधा क्रमशः गम्भीरता की ओर अग्रसर हुई हैं। वे प्रारम्भ से ही गम्भीर हैं, और आत्मसमर्पिता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में 'वह बंगाली मानस की उपज है

ठेठ बंगाली कवि की मनोनिर्मित तथा अन्तर्निर्धारित प्रेम प्रतिमा है। गौडीय-लोक समाज में प्रतिष्ठित प्रेम तथा सौन्दर्य की पूर्ण भावना को प्रकट करने के लिये ही यह राधा आदर्श नारी के रूप में गढ़ी गई है। उसमें गम्भीरता है, चंचलता नहीं, प्रियतम व्रजनन्दन के सुख के लिये व्याकुलता है, अपनी कोई भी चिन्ता नहीं, वह कृष्णगत प्राण है— जीती है कृष्ण के लिये और मरती है कृष्ण के लिये। उसमें आत्मसंभोग के स्थान पर आत्मसमर्पण की भावना ही सर्वातिशायिनी है। वह नित नूतन प्रेममयी है। ऐसे सरल हृदयवाली, विशुद्ध प्रेममयी, भोलेपन की जीवित प्रतिमा तथा अनुराग की भव्य मूर्ति राधा को गढ़कर चण्डीदास सर्वदा के लिये अमर हो गये हैं............यदि यह कहे कि विद्यापति की राधा कलाकृति है और चण्डीदास की राधा रसकृति, तो अनुचित न होगा।'[१]

कृष्ण मिलन पर वे उन्हें अपनी दारुण स्थिति में भी जीवित रहने का कारण मिलन की आशा को ही बताती हैं और कहती हैं कि अब तुम्हें नहीं छोड़ूंगी।

वंधू छाड़िया न दिव तोरे।
× × ×
मरण दशा उपजल जुड़ाव कोनवा ठाँइ॥

कृष्ण से प्रार्थना करती है कि तुम प्रीति रसके चूड़ामणि हो मुझे रस से रसमय कर दो

'कहे चण्डीदास शुन सुनागर राधार आरति राख।
परीत रसेर चूड़ामनि हये रसे ने रसिया राख॥'

कृष्ण से प्रार्थना करती है कि तुम्हीं मेरे पति हो और तुम्हीं मेरी गति हो। तुम्हारे चरणों में आकर मेरे लिये पाप पुण्य समान हो गये हैं। ऐसा भव्य प्रेमभाव है चण्डीदास की राधा का कि उसके सभी मान अभिमान इस तन्मयता में लीन हो गये हैं।

---

[१] आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा, पृष्ठ २९८

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने खोजपूर्ण ग्रन्थ भारतीय वाङ्मय में यह प्रमाणित कर दिया है कि उत्कल, असमिया, मराठी, गुजराती, तामिल, कन्नड, तेलुगु, मलयालम सभी में राधा की प्रेममयी मूर्ति प्रतिष्ठित की गई है [1] लेकिन चण्डीदास और विद्यापति के बाद राधा मूर्ति को अलौकिकता का स्पर्श दे महनीय बनाने वाले हैं अष्टछाप कवि और उनमें अग्रणी हैं सूर। निम्बार्क, राधावल्लभी और अष्ट-छापी कवियों ने राधा का रससिक्त वर्णन किया है। राधा को सौन्दर्यमयी मधुर आह्लादिनी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया है। 'ऐतिहासिक दृष्टि से आचार्य निम्बार्क राधा माधव की युगल उपासना के प्रथम प्रवर्त्तक माने जाते हैं। श्री भट्ट, घनानन्द इस सम्प्रदाय के राधा रूप के चितेरों में प्रमुख हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीहितहरिवंश, हरिराम व्यास, ध्रुवदास उल्लेखनीय हैं। निम्वार्की कवियों का प्रभाव अष्टछाप कवियों पर भी पड़ा और उन्होंने युगल उपासना को अपने काव्य में महत्त्व प्रदान किया। इनके अनुसार राधा-माधव की प्रेममय जोड़ी अलौकिक है। गोपी-गोप भाव से भक्त उनकी प्रेम लीला का आस्वादन करता है। सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास और नन्ददास ने प्रमुखतः राधा रूप की प्रतिष्ठा की है। इनमें नन्ददास ने राधाकृष्ण के आध्या-त्मिक रूप-वर्णन में ही अधिक रुचि ली है। परमानन्ददास ने राधा के निर्मल रूप और प्रेम को प्रतिष्ठित किया है। सूरदास भोली राधा के अनुपम रूप को चित्रित करने में सबसे ही बाज़ी मार ले गये हैं।

सूर की राधा

अष्टछाप में आचार्य विठ्ठलनाथ ने कृष्ण को ब्रह्म और राधा को उनकी आह्लादिनी शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। वे जगत्-स्वामिनी हैं। सूर ने भी यह धारणा अपने साहित्य में स्वीकार कर ली है।

---

[1] आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय वाङ्मय में श्री राधा, पृष्ठ ३१४ – ३८६

'नीलाम्बर पहने तन भामिनी,
जनु घन में दमकती है दामिनि ।
शेष महेश लोकेश शुकादिक नारदादि मुनि की है स्वामिनी ।'

रूप, शील, गुण की खान राधा जगज्जननी है ।

रूप राशि, सुख राशि राधिका शील महा गुण रासी ।
कृष्ण चरण ते पावहिं स्यामा जे तुव चरण उपासी ।।
जगनायक जगदीश पियारी जगत जननी जगरानी ।
× × × ×
अशरन शरनी, भवभय हरनी वेद पुराण वखानी ।।

जगजननी रूप को मानते हुए सूर ने राधा से[1] विनती की है और कृष्णभक्ति का वरदान चाहा है ।

'कृष्णभक्ति दीजो श्री राधे सूरदास वलिहारी ।।'

राधा और कृष्ण का ऐक्य प्रकृति और पुरुष का ऐक्य है । यह संबंध शाश्वत है ।

'सूर स्याम नागर इह नागरि एक प्राण तनु द्वै है ।'
× × ×
द्वै तनु जीव एक हम तुम दोऊ सुख कारण उपजाये ।।[2]

राधा और कृष्ण की यह प्रीति भी इसीलिये शाश्वत है

'समुक्ति री नाहिन नई सगाई ।
सुनि राधिके तेहि भावी सों प्रीति सदा चलि आई ।।
सिंधु मथ्या, सागर वल लांघ्यों रिपु रण जीति मिलाई ।
अब सो त्रिभुवन नाथ नेह वस वन बाँसुरी वजाई ।
प्रकृति पुरुष, श्रीपति सीतापति अनुक्रम कथा सुनाई ।
सूर की रस रीति स्याम सों ते व्रज वसि विसराई'[3]

---

[1] सूरसागर (ना० प्र० सं० १६७३)
[2] सूरसागर (ना० प्र० सं० २३०५)
[3] सूरसागर (ना० प्र० सं० ३४३४)

राधा कृष्ण अतिमानव हैं और पूर्ण मानव भी। यही कारण है राधा का व्यक्तित्व अलौकिक और लौकिक दोनों रूपों में हमारे सामने है इसीलिये मुंशी राम शर्मा कहते हैं कि –

'राधा कृष्ण अतिमानव होते हुए भी पूर्ण मानव हैं। मानव भी मूक और कृत्रिम नहीं, वरन् जीवन के सामान्य धरातल पर बालोचित क्रीड़ा, यौवन सुलभ हास-परिहास, एक के सुख में सुख और दुःख में दुःख का अनुभव करने वाले, परिस्थिति के अनुकूल क्रिया-उद्योगशील एवं प्रवृत्तिपरायण हैं। सूर ने इस परम पुरुष और परम प्रकृति को कृष्ण और राधा के रूप को अवम बनाकर – ऊपर से नीचे लाकर, हम सबके पास बिठा दिया है।'[1]

शाश्वत प्रीति और बाल-सास्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित सूर की राधिका का चरित्र और व्यक्तित्व अनुपम है। सूर ने राधा और कृष्ण का मिलन और प्रेम-विकास वृंदावन के सुखमय जीवन के हास परिहास के बीच स्वाभाविक रूप से दिखाया है। कृष्ण के रूप और शोभा की चर्चा समस्त गोकुल में है, लेकिन भोली राधा इससे बेखबर है। एक दिन कृष्ण ब्रज की गलियों में खेलते हुए निकल पड़ते है। वहाँ नील-वस्त्रावृता, गौरवर्णा, विशालनयना राधा अपने विशाल भाल पर रोरी दिये दिखाई दी[2] जो अपनी सखियों के साथ यमुना तट पर खेलने आई थी। सूर के श्याम देखते ही रीझ गये, नैन से नैन मिले और अकस्मात् ही भोली राधिका ठगी गई। रसिकशिरोमणि कृष्ण ने परिचय पूछा, तुम कौन हो, किसकी बेटी हो, तुम्हें तो ब्रज की गलियों में कभी खेलते

---

[1] भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृष्ठ ३३३

[2] खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी।
गये श्याम रवितनया के तट, अंग लसति चंदन की खोरी॥
औचक ही देखी तंह राधा, नैन विशाल, भाल दिये रोरी
नील बसन फरिया कटि पहिरे बेनी "पीठ रुलति" झकझो

नहीं देखा ?[1] मुखरा किन्तु भोली राधा भी उत्तर देती है कि हम ब्रज की गलियों में क्यों आवें, हम तो अपनी पौरी में खेलती रहती हैं। सुना है नन्द का ढोटा वड़ा चोर है, किसी का मक्खन चुराता है तो किसी का दही। कृष्ण ने उत्तर दिया 'भला तुम्हारा मैं क्या चोरूंगा' तुम तो दही नहीं वेचतीं। आओ मिलकर खेलें और इस प्रकार वातों ही वातों में कृष्ण ने दही से भी वड़ी वस्तु – राधिका का हृदय – चुरा लिया।

तुम्हारो कहा चोरि हम लैहैं ? खेलन चलो संग मिलि जोरी,
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि वातन भुरइ राधिका भोरी ॥

शैशव के इस प्रथम मिलन में ही स्वर्गीय स्नेह उत्पन्न हुआ और दोनों निकट आगये।

प्रथम सनेह दुहन मन जान्यों।
सैन-सैन कीनी सब वातें गुप्त प्रीति सिसुता प्रगटान्यो[2]

कृष्ण राधा के घर और राधा कृष्ण के घर जाने लगी। प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में मिलते, खेलते, रूठते और मनाते स्नेह-वंधन प्रगाढ़ होता गया। 'इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं, सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं, जिसमें अनेक प्रकार के प्रतिवंधों और विघ्न-बाधाओं को पार करने की लम्वी चौड़ी कथा खड़ी होती है।[3] इस प्रकार राधा के इस प्रेम विकास में रूपाकर्षण और साहचर्य दोनों का योग है। शैशव के सखा-सखी युवावस्था के मीत वन जाते हैं और शैशव के खेल न जाने कव विलीन होकर युवावस्था के

---

[1] वूझत श्याम कौन तू गौरी ?
कहाँ रहति काकी है वेटी, देखी नहीं कहूँ व्रज खोरी
काहे को हम व्रजतन आवति खेलत रहति आपनी
सुनत रहति श्रवनन नंद ढोटा करत रहत माखन दा

[2] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, सूरसाहित्य, पृष्ठ १०५

[3] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, महाकवि सूरदास (त्रिवेणी) पृष्ठ ८६

प्रेम में परिवर्तित हो जाते है। अतः यह स्पष्ट है कि राधा-कृष्ण का मिलन आकस्मिक घटना नही है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दो मे वह 'एक चिरपरिचित घटना है, परन्तु उस घटना में नित्यनूतन अभिरामता है, सन्तत वर्द्धमान सौंदर्यासक्ति है, निर्मल अभिव्यंज्यमान प्रेम का मधुर प्रसार है।'[1] श्याम ने राधा को घर आकर खेलने के लिये बुलाने के लिये वृषभानु की सौगन्ध धरा दी है। राधिका का चित्त अब कृष्ण प्रेम में ही उलझा रहता है और प्रिय मिलन के अवसर की खोज में रहता है। घर अच्छा नही लगता। कभी खरिक, कभी यमुनातट, कभी वन, कभी नन्द के घर और कभी व्रज की गलियों में राधा-कृष्ण मिलन होता है। यशोदा भी उन्हे देखकर प्रसन्न होती है। उनका सम्पूर्ण मिलन क्रीडामय है। राधा-कृष्ण के सौन्दर्य, शोभा और आकर्षण के अनेक छविचित्र हमे सूर साहित्य में मिलते हैं। राधा और कृष्ण का यह प्रेम और संयोग क्षणिक घटना का परिणाम नहीं है। यह प्रेम संयोग-मय जीवन की एक गहरी चलती धारा है जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ता। प्रेम उदयकाल का भोलापन, अल्हड़ता और विनोद सर्वत्र दिखाई देता है। कभी राधा खेलने यशोदा के यहां आती है और कृष्ण को ढूंढती है तो कृष्ण व्याकुल होकर बाहर निकल आते हैं और [illegible] जाते हैं।

खेलन के मिस कुंवरि राधिका नंदमहर के आई हो।
सकुच सहित मधुरे करि बोली—घर हो कुंवर कन्हाई हो।
सुनत स्याम कोकिल सम बानी निकसे अति अतुराई हो।
माता सो कछु करत कलह हरि, सो डारी बिसराई हो।
मैया री तू इनको चीन्हति, बारम्बार बताई हो।
जमुना तीर काल्हि मैं भूल्यो, बांह पकरि लै आई हो।
आवत यहां तोहि सकुचति है, मैं दै सौंह बुलाई हो।
'सूर स्याम ऐसे गुन-आगर, नागरि बहुत रिझाई हो।

[1] आचार्य बलदेव उपाध्याय: भारतीय वाङ्मय में श्री

राधा कृष्ण के साथ खेल में भूली रहती है तो उन्हें अपनी माँ से प्रेम की डाँट भी पड़ती है।

काहे को तुम जँह तँह डोलति हमको अतिहिं लजावति।
अपने कुल की खबरि करो धौं सकुच नहीं जिय आवति॥

इस प्रकार कहीं राधाकृष्ण की लड़ाई, कभी माता-पिता से शिकायत और कभी माता-पिता से झिड़की खाते हुए वे बड़े होते हैं। फिर भी कभी-कभी जब यशोदा राधा से विनोद में कहती हैं कि तू यहाँ उत्पात क्यों मचाती है तो राधा के उत्तर में भोला भाव ही रहता है।

वार-वार तू ह्याँ जनि आवै
मैं कहा करौं सुतहिं नहिं वरजति, पर तें मोहिं बोलावै।
मो सो कहत तोरि विनु देखे रहत न मेरो प्रान।
छोह लगत मोकों सुनि वानी महरि तिहारी आन।

बचपन का यह प्रेम क्रमशः गहन होता जाता है और माधुर्य में परिणत हो जाता है तथा बचपन का रूठना मान अभिमान में। राधा का यह प्रेम सामान्य नहीं, उनके श्याम साक्षी हैं, वे उनके सिवाय किसी को नहीं जानतीं, उन्हीं की भक्त हैं। राधा का मन-मधुकर कृष्ण के चरण-कमलों पर इतना लुभा गया है[1] कि कुल-मर्यादा इत्यादि के बाहरी बंधन सब ढह गये हैं।[2] प्रेम में आकर्षण, साहचर्य, मिलन अभिलाषा, आकुलता, उत्कंठा, उलझन, अनन्यता और रास क्रीड़ा की स्थिति तक प्रेम की पराकाष्ठा का परिचय मिलता है। इसी बीच में मिलन में देरी से उत्पन्न उत्कंठा के लिये कभी नयनों को उलहाने देती है, तो कभी जड़

[1] नागरि मनहिं गई अरुझाई।
अति विरह तन भई व्याकुल घर न नेकु सुहाई।

[2] मन मधुकर पद कमल लुभान्यो।
राधा विनय करति मन ही मन सुनहु श्याम अन्तर के यामी।
मातु-पिता-कुल कानि नहिं मानत तुमहिं न जानत हैं जगस्वामी।

निर्जीव मुरली को कोसती है, कभी ईर्ष्या कर उसके भाग्य को सराहती है।

'मुरली तऊ गोपालहि भावति।'

कभी उसके साथ सखीभाव स्थापित करती है।

'प्यारी कर बांसुरी लई।

सन्मुख होइ तुम सुनहु रसिक प्रिय ललित त्रिभगमयी।'

और कभी मान करती है।[1] प्रिय के प्रति निकट रहते हुए भी प्रेम की प्यास बढ़ती जाती है। यद्यपि राधिका हरि संग है फिर भी मिलन की प्रतीति नही होती। उसका हृदय व्याकुल रहता है।

यद्यपि राधिका का हरि संग –

'हृदय व्याकुल धीर नाही वदन कमल विलास।

तृषा में जल जाल सुनि ज्यों अधिक अधिकहिं प्यास।'

और जब रास के अवसर पर वे कृष्ण के साथ रास करती हैं तो सारी वनस्थली ही शोभा के उस अपार समुद्र में अवगाहन करने लगती है।

जब हरि मुरली नाद प्रकास्यो।

जगम जड थावर चर कीन्हे पाहन जलज विकास्यो॥

स्वर्ग पताल दसों दिसि पूरन ध्वनि आच्छादित कीन्हों।

निसिचर कल्प समान बढाई गोपिन को सुख दीन्हों॥

मैंमत भये जीव जल थल के तनु की सुधि न सभार।

सूर स्याम मुख बैन मधुर सुनि उलटे सब व्यवहार॥

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी छबीली वृषभानुलली का वर्णन करते हुए कहते हैं "वह बालिका है, वह किशोरी है, वह ग्वालिनी है, वह ब्रज-रानी है। शोभा उस पर सौ जान से निसार है, शृंगार उसका गुलाम

[1] लोचन मूंदि ध्यान धरि दृढ करि नेक न पलक उघारैं।
अग अंग प्रति रूप माधुरी उरते नहीं बिसारैं।
एसे नेम तुम्हारो पिय के कह जिय निठुर तिहारे।
सूर स्याम मन काम पुरावहु उठि चलि कहे हमारे।

है, त्रैलोक्यनाथ उसकी आँखों की कोर के मुहताज हैं फिर भी वह तन्दत-प्राण है। विरह में वह करुणा की मूर्ति है, मिलन में लीला की अवतार। प्रेमी के सामने वह सरल है 'गाती है' नाचती है, हिंडोले पर झूलती है – अपने को एकदम भूल जाती है। प्रेम की गम्भीरता आनन्द कल्लोल से भर जाती है, पर विरह में वे गम्भीर हैं।······सूरदास की राधा तीन लोक से न्यारी सृष्टि है – 'अपूर्व, अद्भुत, विचित्र।'

अक्रूर के आगमन तथा कृष्ण के मथुरा गमन के अवसर पर राधा विरह वेदना से व्याकुल हो जाती है और संयोग के समय की भोली, मुखरा और लीलावती स्वकीया नायिका राधा शान्त मौन गम्भीर हो जाती है। उद्धव के आने पर उसके इस महनीय प्रेम की झाँकी मिलती है। सब गोकुलवासी विरहवारिधि में डूबे हुए हैं[1] विशेषतः गोपियाँ उद्धव को खूब खरी-खरी सुनाती हैं लेकिन राधिका का दुःख अथाह है, उसकी जो दुःखपूर्ण मूर्ति उद्धव ने गोकुल में देखी वह करुणाजन्य है।

हरि आए सो भली कीनी।
मोहि देखत कहि उठी राधिका अंक तिमिर को दीनी।
तनु अति काँपति विरह अति व्याकुल उर धुकधुकी खेद कीनी।
चलत चरन गहि रही गई गिरि स्वेद सलिल भय भीनी।
छूटी लट भुज फूटी वलया, टूटी तर, फटि कंचुकि झीनी।
मनो प्रेम के परन परेवा याही ते पढ़ि लीनी।
अवलोकत यहि भाँति मानो छूटी अहिमनि छीनी।
सूरदास प्रभु कहाँ कहाँ लगि है अयान मतिहीनी।

उद्धव के आगमन पर वे दौड़ी नहीं गई। उद्धव को देखते ही वे इतना ही कह सकीं कि हरि आगये जो अच्छा किया। विरह में उनकी आँखों

---

[1] सूरदास–सूरसागर
निसदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे॥

से निरन्तर अश्रु प्रवाहित हो रहे हैं। विरह पीड़ा से शरीर कांप रहा है, हृदय धक-धक कर रहा है। फिर उनसे चला नहीं गया, ठिठक गईं, वाणी कंपनयुक्त भयभीत हो गई, बाल बिखरे, वस्त्र मलीन और फटे हुए हैं। उनके प्राण-पखेरू प्रेम के प्रण में डूबे हैं और ऐसी दिखाई देती हैं जैसे सर्प मणि छिन जाने पर व्याकुल दिखाई देता है। सदेश कहने के लिये आगे बढ़ी, अश्रु बहने लगे और मूर्छित होकर गिर पड़ी।

जब सदेशा कहन सुदरि गवन मो तन कीन।
खसी मुद्रा चरन अरुझी गिरी भुवि बलहीन।
कंठ वचन न बोलि आवें हृदय परिहस भीन।
नैन जल भरि रोई दीनो ग्रसित आपद दीन।
उठी बहुरि से भरि भर ज्यों परम साहस कीन।
सूर स्याम प्रभु कल्याण ऐसे जिवहि आसा लीन।

फिर किसी प्रकार साहस करके उठी तो उनकी दशा बड़ी दीन थी। मुखमण्डल पीतवर्ण हो गया था, पीठ उलटे कदली-दल के समान ककालवत दिखाई देती थी। जिन वस्तुओं से राधा के सुन्दर अंगों की तुलना की जाती थी उनकी अब बन आई थी।

तब तें इन सब दिन सचुपायो।
जबतें हरि सन्देस तिहारो सुनत तावरो आयो॥
फूले व्याल दुरेते प्रगटे पवन पेट भरि [illegible]।
फूले मिरगा चौंकि चखन ते टूते जो बन [illegible]।
ऊँचे बैठि विहंग सभा बिच कोकिल [illegible]।
निकसि कंदरा तैं केहरि हू [illegible]।
गहवर तैं गजराज निकसि [illegible]।
सूर बहुरियौ कह राधा के [illegible]॥

राधा ने कृष्ण विरह में [illegible] है। [illegible] मन बहलाती है [illegible]

हरिण चलना भूल जाते हैं तो सखियाँ उसे वीणा बजाने के लिए वर्जित करती हैं, उसे कैसे भी चैन नहीं है। प्रेम का पाश अत्यन्त कठिन है। जिस पर बीतती है वही जान सकता है।

'दूर करहु वीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो नाहिन होत चंद को ढरिबो।
बीती ताहि पै सोई जानै कठिन है प्रेम पास को परिबो।।'

सूर की राधा को चण्डीदास की राधा की तरह न परिवार समाज का भय है और न विद्यापति की राधिका के समान उसमें चातुरी है। उसका प्रेम पूर्ण है जहाँ न शंका संकोच है और न भय। जिसके संयोग और वियोग पक्ष दोनों में व्यापकत्व है, उसे किसी की अपेक्षा नहीं। दुःख को मन में छिपाये वे उद्धव को संदेश नहीं दे सकीं, केवल गोपियों की बकझक सुनकर इतना ही कह सकीं।

'सखी री हरिहिं दोष जनि देहु।
ताते मन इतनो दुख पावत मेरोई कपट सनेहु।।'

गोपाल के बिना कुंजें वैरिन हो गई हैं। संयोग के दिनों में मन आनन्द की हिलोरें उठा देने वाले दृश्य अब दुःखदायी हो गये हैं चन्द्रमा अनावश्यक लगता है, रात सांपिन-सी लगती है, राधा को अप अन्तर्दशा का प्रतिबिंब ही समस्त प्रकृति में दिखाई देता है। सूरदास राधा के दुःख के संकेतमात्र दिये हैं, सब कुछ गोपियों के मुख से कहल है क्योंकि आघात गहरा होता है तो मुख से शब्द ही नहीं निकलते कृष्ण के चलते समय राधिका कुछ न कह केवल कर्म को ही दोष पाई। इतना ही कह सकी थी।

'सखी री वह देखो रथ जात'

कृष्ण के चले जाने पर भी राधिका उस पथ को बस देखती ही रह ग मन कृष्ण के साथ चला गया, केवल शरीर ब्रज में रह गया।

पाछे ही चितवत मेरे लोचन आगे परत न पाई।
मन ले चली माधुरी मूरति कहा करों ब्रज जाई।

उन्हें दुःख है कि वे पवन क्यों न हुईं ? यदि ऐसा होता तो वे पताका उड़ाती रथ के साथ जातीं। यदि धूल होतीं तो चरणों से लिपट जाती। यह कुछ भी नहीं हुआ। कृष्ण चले गये और वे विरह में तड़पती हुई मूर्छित हो गईं।

पवन न भई पताका अम्वर रथ के भई न अंग।
धूरि न भई चरन लपटाती जाती तहँ लो संग।
'सूरदास प्रभु पठे मधुपुरी मुसकि परी ब्रजवाल।'

कृष्ण की याद में व्याकुल राधा कभी पथिक के द्वारा करुण संदेश भेजती है। इतना करुण सदेश कि पथिक भी द्रवित हो गये हैं

सुरति करि वहाँ की बात रोई दियो।
पंथी एकु देखि मारग मे राधा बोलि लियो।।
कहि धों वीर कहाँ ते आयो हमजु प्रणाम कियो।
पा लागों मंदिर पगु धारो सुन दुखियान तियो।।
गदगद कठ हियो भरि आयो वचन न कह्यो दियो।
सूर स्याम अभिराम घ्यान मन भर भर होत हियो।।

और अन्त में कहती हैं कि –

'नाथ अनाथन की सुधि लीजैं।
सूरदास प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै।।'

वे कभी कृष्ण-मूर्ति बनाकर मन वहलाने का असफल प्रयास करती हैं। किन्तु चित्र बन जाने पर व्याकुलता और भी वढ जाती है।

'सब लिखि शोभा जु बनाई।
जानति हीय हलोल लेख करि ऐसेहि दिन बिरमाई।
सूरदास मृदु वचन स्रवन लगि अति आतुर अकुलाई।।'

उस सजीव मूर्ति के न बोलने पर वे विरह के अगाध समुद्र में डूब जाती हैं जिसकी थाह कोई दूसरा नही पा सकता। वे कृष्ण से प्रार्थना करती हैं केवल एक बार आने की।

वारक जाइवो मिलि माधौ
को जाने तन छूट जाइगो सूल रहै जिय माधौ
पहुनें नन्द वावा के आवहु देखिलेउ पल आधौ
सूरदास राधा विलपति है हरि को रूप अगाधौ

यही कारण है उद्धव ने कृष्ण से जाकर कहा था कि राधा तुम्हारे बिना निशिदिन अश्रु वहाती रहती है।

'तुम्हारे विरह ब्रजराज, राधिका नैननि नदी बाढ़ी।
आंसू सलिल बूड़त सब गोकुल "सूर" सुकर गहि लीजे॥'

द्वार खड़ी एकटक मार्ग जोहती है।

'द्वार खड़ी एकटक मग जोवति उरवहु श्वास न लेत॥'

सूर ने राधाकृष्ण पुनर्मिलन की परिस्थितियां भी उपस्थित की हैं लेकिन कृष्ण आये तो राधा के मुख से एक बात भी नहीं निकली। राधा अपने वालपन के साथी का चंचल सरल रूप ढूंढ़ रही थी पर कृष्ण की प्रभुता देखि राधा के मुख से वात नहीं निकली। गंभीर राधा गोपियों की तरह उनसे दौड़कर मिली भी नहीं। कृष्ण अब मथुरा के राजा थे, रास-विहारी कृष्ण नहीं। राधा संकोचवश एक ओर खड़ी रही तब रुक्मिणी ने स्थिति को सुलझाया –

'बूझति है रुकमिनी पिय इनमें को वृषभान किशोरी
नैंकु हमें दिखरावहु अपनी वालापन की जोरी
परम चतुर जिन्ह कीन्हे मोहन, अल्प वैस ही पारी
वारे तैं जिनि रहे पढ़ाये, वुधिवल कल विधि चारी।

और कृष्ण ने वताया –

'वह लरिक जुवति वृन्द में ठाढ़ी, नील वसन तन गोरी
सूरदास मेरो मन वाकी, चितवन वंक हर्‌यौरी'

राधा की महिमा पहिचानकर रुक्मिणी उनसे मिलीं।

'रुकमिनी राधा ऐसे भेंटी
जैसे वहुत दिनन की विछुरी, एक वाप की वेटी

निज मंदिर ले गई रुकमिनी, पहुनाई विधि ठानी'
और सूर के प्रभु वहाँ पहुँचे जहाँ दोनों ठकुरानी थीं।

'सूरदास प्रभु तहाँ पग धारे जहाँ दोऊ ठकुरानी।'

और कृष्ण-राधा मिलन हुआ बड़ा संयत, भावुक और हृदय द्रवित करने वाला। न कोई मान और न अभिमान, शांत संयत राधा केवल लीन रहीं। दोनों प्रेम तल्लीन।

'राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा कीट भृंग गति ह्वै जु गई॥
माधव राधा के रंग रांचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना करि सो कहि न गई॥'

सूर के वाद भी अनेक कवियों ने राधा की चरित्र प्रतिमा निर्मित
ी लेकिन पवित्रता और सरलता की ऐसा दूसरी मूर्ति कोई निर्मित नहीं
र सका ।

सूर के वाद रीतिकाल में राधाकृष्ण के लीला-चरित्र वर्णन से
आध्यात्मिक आकर्षण एवं पवित्रता लुप्त होती गई । सांसारिक एवं
पार्थिव दृष्टिकोण की प्रधानता होती गई । फल यह हुआ कि राधा-कृष्ण
वाल संघाती न रह कर साधारण नायक-नायिका रह गये । राधा के
रूप में सम्मिलित इन विकृतियों को आधुनिक काल में अपने प्रिय-
प्रवास में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने दूर कर आधुनिक
परिस्थितियों के अनुकूल भव्य रूप में राधा को प्रतिष्ठित किया ।



द्वितीय भाग [क]



आधुनिक काव्य साहित्य
के नारीपात्र

प्रियप्रवास और कनुप्रिया की

राधा



शोभा-वारिधि की अमूल्य-मणि सी लावण्य-लीला-मयी।
श्रीराधा-मृदुभाषिणी मृगदृगी-माधुर्य्य की मूर्ति थीं॥



नौ

'प्रियप्रवास' की राधा न तो जयदेव की राधा के समान विलासवती और प्रगल्भा है[1] और न चण्डीदास की राधा की भाँति उन्मादमयी और भावप्रवणा[2]। वह विद्यापति की राधा की तरह चतुर भी

---

[1] जयदेव, गीतगोविन्द –

कथित समयेऽपि हरिरहह न ययौ वनम् ।
मम विफलमिदममलरूपमपि यौवनम् ।।
यामि हे कमिह शरणं सखीजनवचनवंचिता ।।

[जान पड़ता है सखियों ने मुझे धोखा दिया कथित समय तो बीत गया पर भगवान तो नहीं आये। हाय मेरा यह अमल यौवन व्यर्थ ही गया। मैं किसकी शरण में जाऊँ, सखियों ने मुझे धोखा दिया।]

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

[2] तुमि मोर पति तुमि मोर मति मन नहीं आन भाय
कलंकी बलिया डाके सब लोके ताहाते नाहिक दुख।
तमिर लागिया कलहत हार गालाय परित सुख।

नहीं है और न सूर की राधा की तरह संयोग में चंचल और लीलावती ही।[1] वह वियोग में मौन, शान्त गम्भीर है। वे तो शैशव से ही लोक-कल्याण में रुचि लेने वाली विवेकमयी अति 'दिव्य' 'रमणि-वृन्द शिरोमणि' हैं जिनका गांभीर्य और 'सुयश सौरभ' व्रज को सुवासित रखता है। वे अत्यन्त रूपवती हैं। रूप के उद्यान की प्रफुल्लप्राय कलिका हैं। चन्द्र-बिम्ब-सा राधा का मुखड़ा है और मुस्कान मोहक है। वे कला निपुण हैं, शोभा की समुद्र हैं। अमूल्य मणि-सी ओपवाली मृग-नयनी, मृदुभाषिणी और मधुरता की साक्षात् मूर्ति हैं।[2] वे सुन्दर तो हैं ही, साथ ही 'नाना-भाव-विभाव-हाव-कुशला' और 'आमोद आपूरिता' हैं। कटाक्ष-पात निपुणा भी हैं और भ्रूभंगिमा में पंडिता हैं। विशाल-नयना को देखने वाले के हृदय में आनन्द का आन्दोलन उठ जाता है। वे सूर की राधा की तरह भोली और मुखरा नहीं पर उनकी कमनीय-कांत छवि कामांगना मोहिनी हैं। समस्त गाँव में सम्मानित हैं क्योंकि रोगी वृद्ध जनोपकार की उन्हें सदा चिन्ता रहती है। सच्छास्त्रज्ञाता, सद्भावपूर्ण, अनन्यहृदया सत्प्रेमयुक्त नारीरत्न है और बचपन से ही कृष्ण में अनुरक्त है।[3] राधा को शैशव से ही नन्द के घर में स्नेह मिला है, कृष्ण के साथ खेलते क्रीड़ा करते वे वयस्क होती हैं तो यही बाल-स्नेह क्रमशः गंम्भीर प्रेम में परिवर्तित होने लगता है। और ये सब समय कृष्ण के ध्यान में तन्मय रहने लगती हैं।

यह अलौकिक बालक बालिका
जब हुए कल क्रीड़न योग्य थे।
परम तन्मय हो बहु प्रेम से
तब परस्पर थे मिल खेलते।[4]

---

[1] चलत चरन गहि रह गई गिरिस्वेद सलिल रस भीनी
छूटी लट फूटी बलया, टूटी लर फटी कंचुकी भीजी।
[2] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ४४/४
[3] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ४५/६
[4] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ४५/१३

कृष्ण के चरणों में वे अपने कोमल हृदय को अर्पित कर विधिपूर्वक उन्हें पति रूप में वरण करने की कामना करने लगती हैं।

'हृदय चरण में तो मैं चढ़ा ही चुकी हूँ।
सविधि-वरण की थी कामना और मेरी।'[१]

लेकिन भाल का लिखा कौन मिटा सकता है? असमय ही क्रूर अक्रूर कृष्ण को मथुरा ले जाने आ जाते हैं। कृष्ण प्रवास प्रसंग से कमनीय-कांत छविवाली कामांगना मोहनी राधा के हृदय को दुखित कर देते हैं। प्रफुल्लवदना राधा खिन्ना, दीना, परम मलीना और उन्मना हो जाती हैं। उन्हें अपना भगवती पूजन, सभी व्रत और पुण्य विफल जान पड़ने लगते हैं, रो रो कर उनका प्रत्येक पल कटता है।

जिस क्षण से कृष्ण प्रवास का प्रसंग आया उनके लिये समस्त प्रकृति दुखमय हो गई। वे सोचती हैं काश, यह रात वीते ही नहीं और कृष्ण न जा पायें।

'पर यदि यह काली यामिनी ही न वीते।
तब फिर व्रज कैसे प्राणप्यारे तजेंगे?'[२]

दुखी राधा को तारे भी सोच में डूबे जान पड़ते हैं। सकल दिशाएँ रोती जान पड़ती हैं, उनकी दशा चातकी के समान हो रही है।

रो रो चिन्ता-सहित दिन को राधिका थीं विताती।
आंखों को थीं सजल रखतीं उन्मना थीं दिखाती।
शोभा वाले जलद-वपु की हो रही चातकी थीं।
उत्कण्ठा थी परम प्रवला वेदना वर्द्धिता थी।[३]

कृष्ण चले गये और कोई संदेश भी नहीं भेजा। ऐसी स्थिति में खिन्न मना राधा को पवन की प्यार वाली क्रियाएँ दुखदायी लगीं।

---

[१] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ५०/३५
[२] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ५१/४०
[३] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ७६/२६

श्री राधा को यह पवन की प्यार वाली क्रियाएँ।
थोड़ी सी भी न सुखद हुई हो गई वैरिणी सी।[१]

समस्त प्राकृतिक सुन्दर वातावरण भी दुखदायी हो गया। विरहिणी को फूल की सुगन्ध ने और भी अशान्त बना दिया है। अंत में वे सुरभित पवन से ही याचना करती हैं कि क्या तू भी काल की क्रूरता से कलुषित हो गई है? तू कुसुम को चूमती है, गंध लेती है, वारि के सीकरों को वहन करती है लेकिन मुझे ताप देती है। ऐसा क्यो? दुखी प्राणियों की पीड़ा हरने में पुण्य होता है तू भी मुझ दुखिनी का दुख दूर कर, पुण्य प्राप्त कर और वामता छोड़कर कृष्ण तक मेरा संदेश पहुँचा दे।

जाके आये न मधुवन से औ न भेजा सदेसा।
मैं रो रो के प्रिय-विरह से बावली हो रही हूँ।
जाके मेरी सब दुख-कथा श्याम को तू सुना दे॥[२]

और जिस तरह कालिदास के यक्ष ने आषाढ़ के बादल को अपनी प्रिया तक पहुँचने का रास्ता बताया था, वैसे ही हरिऔध की राधा ने भी मथुरा नगरी में कृष्ण तक पहुँचने के लिये पवन-दूती का पथ प्रदर्शन किया है, जिसमें पथ के कुंज, द्रुम, लता, इत्यादि का वर्णन तो किया ही है, साथ ही क्लान्त और दुखियों की क्लान्ति और दुख दूर करने का आदेश देना भी वे नही भूली है। इसीलिये उसे 'गंध आमोद प्रमोदकारी' प्रसारित करने का और 'उद्धता' न होने का आदेश देती हैं।

निर्धूली हो गमन करना उद्धता भी न होना।
आते जाते पथिक जिससे पंथ मे शान्ति पावें।[३]

वे सुन्दरी के श्रम हरने, रस पीते भ्रमर भ्रमरी के प्रति सौम्य होने,

---

[१] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ७७/२६

[२] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ७७/३३

[३] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ७६/४०

कालिन्दी का उत्ताप खोने, रोगी को शान्ति देने, कृषक ललना की
क्लांति मिटाने, तथा पथ में मथुरा नगरी की शोभा से आसक्त न होने
का आदेश देती हैं और अन्त में कृष्ण के चरणों में कुम्हलाया फूल डाल
अपनी दशा वर्णन करने का संदेशा देती हैं।

'कोई प्यारा कुसुम कुम्हला गेह में जो पड़ा हो।
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसीको।
यों देना ऐ पवन वतला फूल सी एक वाला।
म्लाना हो हो कमल पग को चूमना चाहती है।'[1]

कमल को थोड़ा थोड़ा विपुल जल में डुबोकर वताना कि एक
अंभोजनेत्रा विरह-विधुरा होकर आँखों को वारि में वोर रही है।

इसी प्रकार नीप पुष्प के मिस रोमांच, सूखी लतिका के द्वारा
कृशता, पीले पत्ते द्वारा पीतवर्ण इत्यादि की सूचना देने का संदेश देती
हैं और चरणरज लाने का संदेश सर्वप्रमुख है क्योंकि उसके विना वे चि
को नहीं वोध दे सकेंगी। व्याकुलतावश वे पवन से प्यारे की आवा
की गूंज, पुष्प की सुगन्धि, अंगरागादि का चूर्णांश लाने को कह
हैं। इस प्रकार राधा की विरह-व्यथा नित्य वढ़ती जाती है।

फिर भी वे सूर की राधा की तरह गोकुल की गलियों को आँ
से नहीं भरतीं वरन् अपने पुनीत प्रेम की रक्षा करती हुई लोकहि
ही अपना हित समझती हैं। प्रकृति को कोसने के वदले उसके
उन्हें कृष्ण की छवि वसी हुई दिखाई देती है।

वह न तो प्रकृति को कोसती है और न कुंजों की छाह में
कर अपना समय विताती है उसे तो समस्त प्रकृति में अपना प्रिय
हुआ जान पड़ता है।

उन्हें पुष्प में कृष्ण की सुषमा, लालिमा में वर्ण, केतकी
में गंध, समस्त श्याम वर्ण उपकरणों में श्याम की श्यामता आ

---

१ श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ८५/७०.

होती जान पड़ती है। कभी चम्पा, जूही इत्यादि उन्हें समदुखिनी प्रतीत होती हैं। इस प्रकार दुखी राधा के दिन बीत रहे हैं। तभी एक दिन उद्धव ने, जो कृष्ण का सदेश लेकर आये, प्रशान्त, म्लान, दिव्य, कोमल कांतियुक्त नेत्र वाली राधा को देखा, जोउन्हें विषाद, प्रफुल्लता और आकुलता की समन्वित मूर्तिजा न पड़ी। उद्धव को देखकर राधा न असंयत हुई और न मूर्छित ही। उन्होंने हरि बन्धु को भक्तिभाव से बैठाया। उद्धव ने भी कृष्ण का संदेश दिया।

जो दो प्यारे हृदय मिल के एक ही हो गये हैं।
क्यों धाता ने विलग उनके गात को यों किया है।[1]
× × × ×
श्रेयःकारी सतत दयिते सात्विकी-कार्य्य होगा।
जो हो स्वार्थोपरत भव में सर्व-भूतोपकारी।।[2]

राधा ने रोते हुए अत्यन्त विषाद के साथ हृदय को वज्र बना उद्धव से कृष्ण का सदेश सुना और फिर शान्ति और धैर्य के साथ उनसे अपना संदेश कहा। यहाँ राधा का ज्ञान-गाम्भीर्य अस्वाभाविकता की सीमा तक पहुँच गया है। वे दुखी होने के बदले उद्धव से कहती हैं कि उर-तिमिर की ध्वसिनी ज्ञान आभा तुमने उद्दीप्त कर दी, यह अच्छा ही हुआ फिर भी नारीसुलभ वेदना न्यायोचित है; क्योंकि जिस प्रकार रात चाँद के बिना और वाटिका बसत के बिना अशांत रहती है, वैसे ही कृष्ण बिना उनका विकल और उन्मना रहना स्वाभाविक है। कर्त्तव्यशील होते हुए भी वे प्रेयसी हैं, इसीलिए उनका सुकुमार हृदय प्रिय-मिलन के लिये इतना उत्कण्ठित है कि कभी वे आकुल पक्षियो की तरह पक्षयुक्त होकर कृष्ण से जा मिलना चाहती हैं, कभी पवन से गति पाने की उनकी इच्छा होती है।

---

[1] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ २६२/३८

[2] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ २६४/४६

वे उद्धव पर सूर की गोपियों की तरह व्यंग्य वाणों की वर्षा तो नहीं करतीं, फिर भी स्तुति के मिस उलाहना दे ही देती हैं।

मधुकर सुन तेरी श्यामता है न वैसी।
अति-अनुपम जैसी श्याम के गात की है ॥
पर जब-जब आँखें देख लेती तुझे हैं।
तब-तब सुधि आती श्यामली मूर्ति की है ॥[१]

प्रकृति में प्रियतम को रमा हुआ देखकर भी उनका मन शान्ति नहीं पाता। एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट कहा है कि प्रिय-मिलन की लालसा जितनी तीव्र है उतनी जगत-हित की नहीं।

'निर्लिप्ता हूँ अधिकतर मैं नित्यशः संयता हूँ।
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते ॥
वैसी वांछा जगत-हित की आज भी है न होती।
जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है ॥'[२]

क्योंकि रूप का मोह बहुत बड़ा होता है। फिर कृष्ण के अतुलनीय रूप का तो कहना ही क्या ?

'दोनों आँखें निरख जिसको तृप्त होती नहीं हैं।
ज्यों-ज्यों देखें अधिक जिसकी दीखती मंजुता है।
जो है लीला-निलय महि में वस्तु स्वर्गीय जो है।
ऐसा राका-उदित-विधु सा रूप उल्लासकारी ॥'[३]

उस सुन्दर सलोने श्याम को राधा किसी प्रकार भी हृदय से नहीं निकाल सकतीं। वे तो समस्त प्रकृति-सौन्दर्य में कृष्ण की ही छवि ढूंढ़ती रहती हैं।

व्यापी है विश्व प्रियतम में विश्व में प्राणप्यारा।
यों ही मैंने जगत-पति को श्याम में है विलोका ॥[४]

---

[१] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ २७२/६६
[२] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ २६६/५६
[३] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ २६६/७१
[४] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ३०७/११२

इसीलिये वे लोकहित में ही अपना हित समझती हैं। अपना दुःख छिपा कर गोकुल के दुखियों के घर जाती हैं, और उनकी पूर्णतः देखरेख करती हैं, क्योंकि सारे प्राणी विश्वात्मा के रूप हैं –

विश्वात्मा जो परम प्रभु हैं रूप तो हैं उसी के।
सारे प्राणी सरि गिरि लता वेलियाँ वृक्ष नाना ॥[1]

इसीलिये वे अथक अवर्णनीय परिश्रम कर इन सबकी रक्षा, पूजा, सम्मान, सेवा करती हुई, लोक कल्याण के माध्यम से कृष्णभक्ति ही करती हैं, हरिऔध की राधा के सुमनों की माला छू जाने से फफोले नही पड़ते। वह तो 'सन्द्यास्त्र' ज्ञाता हैं। वे सुजन शिर की छाया हैं और 'प्रिय' की तथा 'परमेश' की भक्ति को एक समझती हैं।

कह चुकी प्रिय-साधन ईश का।
कुंवर का प्रिय साधन है यही ॥
इसलिये प्रिय की, परमेश की।
परम-पावन-भक्ति अभिन्न है ॥[2]

वे उद्धव से कहती हैं कि मैं तो पहले से ही उस भक्ति में लीन हूँ, जो प्रिय ने सिखाई है, अब उसमें और भी दत्तचित्त हो जाऊँगी। वे देश-सेविका और जन-सेविका हैं; तभी वे सदेश में कहती हैं कि मैं अपने से भी अधिक ब्रजवासियों के दुःख से दुखी हूँ।

मैं ऐसी हूँ न निज-दुख से कम्पिता शोक-मग्ना।
हा, जैसी हूँ व्यथित ब्रज के वासियों के दुखों से ॥[3]

वे कृष्ण से मिलन न माँगकर कौमार व्रत की पूर्णता माँगती हैं।

आज्ञा भूलूँ न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ।
मेरा कौमार-व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे ॥[4]

---

[1] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ३०८/११७
[2] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ३१०/१२७
[3] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ३११/१३२
[4] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ३१२/१३५

वे विरह में आहें भरकर समय बिताने के बदले धर्मरक्षा और लोकसेवा में संलग्न रहती हैं। वे कभी किसी मूर्च्छित के वारि के छींटे देती हैं, तो कभी किसी विरह तप्त बालिका के ठंडे लेप लगाती हैं और कभी किसी उन्मना को प्रबोध देती हैं। इस प्रकार अपना 'राधा' नाम सार्थक करती हैं। कठोर कर्त्तव्य के बीच राधा की पीड़ा दुखियों के प्रति सहानुभूति के रूप में झलकती चलती है। जहाँ अन्य कवि काव्य में राधा के चरित्र को कम सामने लाये हैं वहाँ प्रियप्रवास में राधा प्रत्येक स्थान पर उपस्थित रहती हैं, और वे ही प्रमुख हैं। वे गोपियों की पीड़ा आत्मपीड़ा की तरह अनुभव करती हुई स्वयं उस दुःख को व्यक्त करती हैं जबकि अन्य कवियों ने स्थान-स्थान पर राधा की पीड़ा गोपियों के मुख से व्यक्त करवाई है। राधा लोकनायिका हैं। गोकुलवासियों का दुःख और संकट उनका दुःख और संकट है। जिस तरह राधा ने प्रकृति के कण-कण में अपने प्रिय को बसा देखा है उसी प्रकार प्रत्येक गोकुल-वासी की आत्मा में अपने दुःख की झलक भी उन्होंने देखी है इसीलिये लोक का दुःख राधा का दुःख है। वे घंटों हरि-जननी के पास बैठती थीं और नाना यत्नों से उन्हें शोकमग्न नहीं होने देती थीं। ब्रज नृपति की क्लांति मेटने में भी वे पीछे नहीं थीं यहाँ तक चींटी और विहंग भी उनकी संवेदना के पात्र थे।

आटा चींटी विहंग गण थे वारि औ अन्न पाते।

× × × ×

कंगालों की परम निधि थीं औषधी थीं पीड़ितों की।[1]

इस प्रकार वे ब्रजवासियों की आराध्या बन गई और विश्व की प्रेमिका।

आराध्या थीं ब्रज-अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं।

वे ब्रज में फैले अंधकार को अपने व्यक्तित्व की कौमुदी से पूर्ण करती थीं।

जब कभी वे अपने पर ध्यान केन्द्रित करती हैं, तो उन्हें लगता है कि न पहले जैसी आनन्दपूर्ण घड़ी आई न वायु ही वैसी संचरित हुई

---

[1] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ३२२/४८,४९

जैसे कृष्ण के सामने होती थी। वैसा सुहावना समय भी कभी नहीं आया। न कभी वैसे बादल घिरे और न कोकिल ही बोली। इसीलिये राधा सहित समस्त ब्रजवासियों के मन में उन सुखद क्रीड़ाओं की स्मृति से हूक-सी उठती रहती है।

राधा के मन में कृष्ण-दर्शन की लालसा बीच में उत्पन्न होकर उसे उत्कंठित करती है फिर भी उसकी सर्वोपरि अभिलाषा यही है कि कृष्ण जहाँ भी रहे सुख से रहें।

प्यारे आवें सुवयन कहें प्यार से गोद लेवें।
ठंडे होवें नयन दुख हो दूर मैं मोद पाऊँ॥
ए भी भाव है मम उर के और ए भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें॥[1]

प्रियप्रवास की राधा साधिका है। सूर तथा अन्य कवियों की राधा की तरह अपना दुःख दूसरों के सामने खोल देने वाली नहीं वरन् तपस्विनी के समान अपने दुखों को भुलाकर लोक का दुख-सुख सर्वोपरि मानने वाली। यही कारण है कि उनका व्यक्तिगत प्रेम देशप्रेम तक सीमित न रहकर विश्वबन्धुत्व की विस्तृत सीमाओं तक अग्रसर हुआ है। प्रियप्रवास की राधा मे मानवीय गुणों का विकास महत्ता की उस स्थिति तक पहुँचा – सात्विक भूमि तक पहुँचा है – जहाँ व्यक्तिगत सुख-दुख लीन हो जाते हैं। यह प्रेम और साधना की पराकाष्ठा है।

प्रियप्रवास के अतिरिक्त राधा चरित्र की प्रतिष्ठा श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने अपने कृष्णायन में की है लेकिन इसमें राधा का चरित्र परम्परागत रूप में ही चित्रित हुआ है। नई कविता के क्षेत्र मे धर्मवीर भारती ने अपनी कनुप्रिया में-प्रारम्भ मे-राधा को कृष्ण की जन्म-जन्मान्तर की रहस्यमयी लीला की एकान्त-संगिनी के रूप में चित्रित किया है 'तुम्हारी जन्म-जन्मान्तर की रहस्यमयी लीला की एकान्त संगिनी मैं?'[2]

---

[1] श्री हरिऔध, प्रियप्रवास, पृष्ठ ३०४/६८
[2] धर्मवीर भारती, कनुप्रिया, पृष्ठ २३

पूर्वराग की स्थिति में उनके प्रेम के विविध आयाम, मंजरी परिणय, सृष्टि संकल्प और केलि सखी के अंतर्गत उनकी प्राणों की धार से प्रस्फुटित होकर प्रकृति के प्रतीकों में सार्थक तादात्म्य प्राप्त करते हैं, प्रेम का विस्तार लदे आम की डालियों के नीचे यमुना तट पर होता है।[1] विरह में निभृत एकांत में कृष्ण से दूर प्रगाढ़ अंधकार में, वियोग की स्थिति में उसे बड़े-बड़े गुलाब टीसते लगते हैं और दर्द उस लिपि का अर्थ, उन भावों का तात्पर्य खोलता प्रतीत होता है जो आम्र मंजरियों के अक्षरों में उसकी मांग पर लिखी गई है।[2] उसे व्यथा है कि कृष्ण ने उसे केवल सेतु समझा –

सुनो कनु सुनो
क्या मैं सिर्फ एक सेतु थी तुम्हारे लिये
लीलाभूमि और युद्धक्षेत्र के
अलंघ्य अंतराल में[3]

वेदना से पूर्ण राधा जीवन-पगडंडी की कठिनतम मोड़ पर कृष्ण की प्रतीक्षा में अडिग खड़ी है –

मैं पगडंडी के कठिनतम मोड़ पर
तुम्हारी प्रतीक्षा में
अडिग खड़ी हूँ, कनु मेरे[4]

कनुप्रिया के 'इतिहास' और 'समापन' में राधा के परंपरागत प्रणय को युग संदर्भ के प्रसंग से (महायुद्ध और व्यक्ति की अवशता) नये परिप्रेक्ष्य और नई बानगी में प्रस्तुत किया गया है। हो सकता है आगामी युग में राधा के महासागर से गहरे व्यक्तित्व का किसी नये कवि द्वारा कोई नया पहलू उद्घाटित हो।

---

[1] धर्मवीर भारती, कनुप्रिया, पृष्ठ २४
[2] धर्मवीर भारती, कनुप्रिया, पृष्ठ ३२
[3] धर्मवीर भारती, कनुप्रिया, पृष्ठ ८४
[4] धर्मवीर भारती, कनुप्रिया, पृष्ठ ८८

उपेक्षिता

उर्मिला



स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला।
नाम है उसका उचित ही "उर्मिला" —



दश

भारतीय संस्कृति की साक्षात् मूर्ति उर्मिला का व्यक्तित्व आदि-कवि वाल्मीकि और तुलसी द्वारा उपेक्षित ही रहा। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ, जो भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ, महनीय और वरेण्य के रूप को रस देने की शक्ति रखते थे, उन्होंने सबसे पहले अपनी करुणा-रस-ग्राहिणी दृष्टि से उर्मिला के इस त्यागमय पर उपेक्षित व्यक्तित्व को अपनी भावनाओं से रंग दिया।[1] उन्होंने उर्मिला पर कोई बड़ा काव्य या नाटक नहीं लिखा, पर एक लेख लिखा – 'काव्य की उपेक्षिताएँ।' उनकी करुणा का रस पाकर उर्मिला का सौभाग्य-सुख-पुष्प जो विकसित होते होते मुरझा गया था, पुनः प्रफुल्लित हो उठा। उसकी प्रेम-

---

[1] 'हाय अव्यक्त वेदना में ही उर्मिला, एक बार तुम्हारा उदय प्रातःकालीन तारा की भाँति महाकाव्य के सुमेरु शिखर पर हुआ था। तदुपरान्त अरुण लोक में तुम्हारे दर्शन नहीं हुये। कहाँ तुम्हारा उदयाचल है और कहाँ अस्ताचल ?'

नदी की शीतल धारा, जो राम-वनवास के मरुस्थल में खो गई थी, वह सचमुच खो नहीं गई वह हिन्दी के कवियों के हृदय में उद्दाम वेग से प्रकट हुई। इस करुण रस की धारा का स्पर्श सबसे पहले महावीरप्रसाद द्विवेदी के हृदय से हुआ और उनका हृदय चन्द्रकान्त मणि सा द्रवित हो उठा। उन्होंने हिन्दी में 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' लेख लिख कर कवि संसार को आन्दोलित कर दिया। फलस्वरूप भारतीय संस्कृति के सजग प्रहरी मैथिलीशरण ने 'उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन रस के लेप से और पाकर ताप उसके विरह विक्षेप से' साकेत जैसे महाकाव्य का प्रणयन किया और उसमें उर्मिला को पूर्ण प्रमुखता दी। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि – 'साकेत सब प्रकार से निराला ग्रंथ' है। इसमे कदाचित् ऐसा कुछ भी नही ढूंढ़ा जा सकता जो रवीन्द्रनाथ की किसी उक्ति से प्रभावित हो, परन्तु इसमे कौन सन्देह कर सकता है कि प्राणों ने प्राणों को जाग्रत किया था और सचमुच विश्वकवि के प्रभाव से प्रेरित हो मैथिलीशरण गुप्त ने समय के असंख्य पर्तों को फाड़ कर विश्व की सारी वेदनाओं को समेट कर उर्मिला के चित्त को ज्योतित कर दिया। कवि ने अपनी अनुभूति के विशाल पट पर अयोध्या के महल में अरुण-पट-धारिणी साक्षात् उषा सी आह्लादित, उज्ज्वल स्वर्ण प्रतिमा सी ढली हुई, कनक लतिका सी सुन्दर-कल्प शिल्पी की कला सी कोमल उर्मिला साकेत के रंगमंच पर उदित हुई, राजवधू और प्रेमिका की मधुर मुस्कान लिये। जिसके हीरक से देदीप्यमान नेत्र, पद्मराग से अरुण अधर, मोती से उज्ज्वल दांत, कान्त कपोल और अनुराग की मधुरता से पूर्ण हृदय तथा दीप्त मुख है, घन-पटल से काले एवं सचिक्कण केश अत्यन्त मनोहारी हैं। उसकी कुन्दन सी अंग कान्ति अवर्णनीय है। उसका यह दिव्य सौन्दर्य प्रथम दर्शन में ही पाठकों को अभिभूत कर लेता है, और शील-सौरभ से साकेत समाज को सुरभित करता, अपने दिव्य भाव से साकेत समाज के समस्त पात्रों को उद्वेलित अनुप्रेरित और ज्योतित करता रहता है।

केत में उसके प्रथम दर्शन में ही उसका उल्लासमय रूप हमारे सामने ता है। वह अपने कीर के सम्मुख खड़ी है और पूछ रही 'रे सुभाषी ल, चुप क्यों हो रहा ?' तभी लक्ष्मण आ पहुँचते हैं और कहते हैं :–

'वीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से,
देख कर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है ?'[1]

वाक्पटु उर्मिला लक्ष्मण से किसी प्रकार कम नहीं। जब लक्ष्मण मधुर वाग्विनोद में यह कहते हैं कि –

'किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ'

तो उर्मिला कहती है कि –

'दास वनने का वहाना किस लिये ?
क्या मुझे दासी कहाना, इस लिये ?
देव होकर तुम सदा मेरे रहो,
और देवी ही मुझे रक्खो, अहो ।।'[2]

और भारतीय नारी भला पति को दास कैसे मान लेती ? और जब उसे देवी मान कर लक्ष्मण वरदान की आकांक्षा करते हैं तो कहती है कि 'कामना को छोड़कर ही कर्म है'। लक्ष्मण अपनी कामना को उर्मिला के चरणों में ही मानते हैं तो उर्मिला कहती है कि मैं 'अवश अवला' पैर नहीं सिर ही पकड़ो। लेकिन वह अवला नहीं, लक्ष्मण कहते कि तुम्हारी एक वांकी दृष्टि पर समस्त सृष्टि मर और जी रही है इस प्रकार लक्ष्मण और उर्मिला में मधुर हास-परिहास चल रहा तभी लक्ष्मण याद दिलाते हैं कि कल आर्य राम का अभिषेक है,

'कल प्रिये निज आर्य का अभिषेक है,
सब कहीं आनन्द का अतिरेक है।'[3]

---

१ मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २१
२ मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २२
३ मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २५

लक्ष्मण को आश्चर्यचकित करती कुशल कला विदुषी उर्मिला अपना बना 'राम अभिषेक' का चित्र दिखाती है तो उसकी कला समृद्धि, विषय प्रतिपादन देख कर वे सुध भूल जाते हैं और उर्मिला की प्रशंसा करते हैं लेकिन वाक्-पटु उर्मिला इनकी एक भी उक्ति टिकने नहीं देती, तो लक्ष्मण कहते हैं कि एक भी उपमा तुम्हें रुचती नही है अतः मैं तुम्हें अनुपमा कहूँगा।

'अनुपमा तुमको कहूँगा मैं सदा !
निरुपमे, पर चित्र मेरा है कहाँ ?
प्रिय, तुम्हारा कौनसा पद है यहाँ ?
भावती, मैं मार लूँ किस काम का ?
एक सैनिक मात्र लक्ष्मण राम का ।।'[१]

लेकिन अभिषेक के चित्र में जब वह लक्ष्मण का चित्र बनाने चली और जब वह चित्र की रचना में उमंग से रंग भरने लगी तो सात्विक भावों के उद्रेक से रंग फैलकर अभिषेक पट पर फैल गया। भोली उर्मिला का ध्यान अपशकुन की ओर नही गया। उसने उसे सात्विक भावों के उद्रेक का परिणाम ही समझा। इसी आनन्द-विनोद की मधुरता में समय समाप्त हो गया और लक्ष्मण राज्याभिषेक के कार्यक्रम को देखने चल दिये। जाते-जाते पतिव्रता उर्मिला ने उनके चरणों को स्पर्श किया।

'चूमता था भूमितल को, अर्द्ध विधु - सा भाल,
बिछ रहे थे प्रेम के दृग-जाल बन कर बाल।
छत्र-सा सिर पर उठा था, प्राणपति का हाथ,
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ।'[२]

लेकिन इसके आगे विदा-विशेष की वेला आ गई। दूसरे दिन राज्याभिषेक का दृश्य सचमुच बिगड़ गया। कुमति मंथरा ने कुमंत्रणा से कैकेयी को भड़काया कि राजा को भरत से सुत पर भी संदेह है। उसे दशरथ से वर-याचना के लिये उकसाया। अंत मे उसकी चालें फलीभूत

[१] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २८
[२] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ३१

हुई। राम का राज्यभिषेक होते होते रुक गया। बदले में मिला उन्हें वनवास। सीता भी यह कह कर कि 'मेरी यही महामति है – पति ही पत्नी की गति है' राम के साथ वन जाने के लिये तत्पर हो गईं और भ्रातृभक्त लक्ष्मण भी उनके अनुगामी बने।

'प्रभो! रक्खो सदा निज दास मुझको,
कि निष्कासन न हो गृह-वास मुझको।'[1]

मंथरा के कुचक्र का परिणाम भोगना पड़ा निरीह उर्मिला को। उसके भाग्य-सूर्य पर वियोग की घटायें घिर आईं। उसके मन में भी वन-गमन की इच्छा थी, लेकिन वह धर्मसंकट में थी। न तो सीता की तरह वन को स्वर्ग बनाने की कल्पना में लक्ष्मण के साथ जाने का वह हठ कर सकती थी क्योंकि इससे उनके कर्त्तव्य में बाधा पड़ने की संभावना थी और न विलास सामग्री से घिरे राजमहल में रुकने की उसे इच्छा ही थी। अकस्मात् घिरी विपत्ति से उसका आर्द्र-सरोज-अरुण मुख अत्यन्त करुण हो गया। लक्ष्मण के यह कहने पर कि –

'यदि तुम भी प्रस्तुत होगी–तो संकोच–सोच दोगी।
× × × ×
नहीं, नहीं यह बात न हो, रहो, रहो, हे प्रिये! रहो।
यह भी मेरे लिये सहो, और अधिक क्या कहूँ, कहो?'[2]

और वियोग की इस करुण वेला में चिन्ता, कामना, आशंका, मोह, निस्सहायता आदि के वेग से उसकी वाणी रुद्ध हो गई। उसने मन कड़ा करके कहा – हे मन, तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन।

'आज स्वार्थ है त्याग-भरा! हो अनुराग विराग-भरा!
तू विकार से पूर्ण न हो, शोक-भार से चूर्ण न हो।'[3]

उसके निर्मल मन में सीता के लिये ईर्ष्या-भाव उत्पन्न नहीं हुआ। वह महलों में ही वही सिद्ध करने रह गई जो सीता वन में प्रमाणित करने

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ६३
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ७८
[3] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ७९

जा रही थी। उसने अयोध्या में रह कर त्याग, बलिदान, धैर्य और कर्त्तव्य-पालन का व्रत निवाहा ।

'सास-ससुर की स्नेह-लता – बहन उर्मिला महाव्रता,
सिद्ध करेगी वही यहाँ, जो मैं भी कर सकी कहाँ ?'[1]

और जब सीता ने राम से यह कहा कि–

'नाथ ! न भय दो तुम हमको, जीत चुकी हैं हम यम को,
सतियों को पति-संग कहीं – अगम गहन क्या दहन नहीं ।'[2]

सीता की यह उक्ति सुनकर कोमल उर्मिला, जिसने कभी दुःख सहा नहीं था, आकुल हो गई और 'हाय' कह कर पृथ्वी पर गिर पड़ी। उर्मिला की दुःख-दशा देखकर लक्ष्मण ने नेत्र मूँद लिये और सीता ने कहा –

'आज भाग्य जो है मेरा, वह भी हुआ न हा ! तेरा !
माताएँ थी मूर्ति बनीं, व्यग्र हुए प्रभु धर्म-धनी ।'[3]

सीता द्वारा कही गई इस उक्ति से उर्मिला का गौरव और भी बढ़ गया है। पति की प्रतिमा मानस-मंदिर में स्थापित कर त्यागमयी उर्मिला वियोग-प्रतिमा बन अयोध्या में रह गई। नवयौवना नववधू को विरहिणी का वेश धारण करना पड़ा। उसके कमल-पंखुड़ी से कोमल हृदय पर विरह विपत्तिदायिनी 'अवधि शिला' का भार आ पड़ा, जिसे वह तिल-तिल कर अपनी दृग-जलधार से काटती रही। अब उसकी कनक-लतिका सी ढली कमनीय काया कृशकाय हो गई, जिसको देखकर करुणा को भी करुणा आती है। वह अपने पति के लिये सदा यही सोचती रही कि उनका व्रत न टूटे ।

'करना न सोच मेरा इससे,
व्रत में कुछ विघ्न पड़े जिससे ।'[4]

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ८३
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ८३
[3] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ८४
[4] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ११७

उसकी विरह-व्यथा ने कैकेयी जैसी कठोरहृदया को भी द्रवीभूत कर दिया –

'आ, मेरी सबसे अधिक दुःखिनी, आ जा,
पिस मुझ से चंदन लता मुझी पर छा जा।'

उर्मिला अपने त्याग में दृढ़ है यही कारण है कि जब भरत के साथ साकेत-समाज चित्रकूट जाता है और सीता के चातुर्य से उर्मिला का लक्ष्मण से मिलन होता है तो लक्ष्मण उसकी काया की शेष छाया को देखकर स्तम्भित रह जाते हैं।

'यह काया है या शेष उसी की छाया'

प्रिय की ऐसी सशंकित दशा को देखकर उर्मिला कहती है –

'मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी,
मैं बांध न लूंगी तुम्हें, तजो भय भारी।'[1]

कदाचित् उसके उपवन का हरिण वनचारी होने के बाद उपवन में आते हुये डरता है कि कहीं मोह बंधन में न बँध जाऊँ। उर्मिला उन्हें आश्वासन देती है कि मैं तुम्हें बाँधूगी नहीं। कैसी दुःखद स्थिति रही होगी और जब लक्ष्मण संकोच से सिमिट गये होंगे। वे दुःखावेग से पूरित हो उससे कहते हैं।

'वन में तनिक तपस्या करके
बनने दो मुझको निज योग्य।'[2]

वह दुःखिनी तब भी स्वामी से सँभल के कुछ नहीं कह सकी, सब उपालम्भ आंसू होकर गल गये और इतना ही कह पाई –

'हा स्वामी! कहना था क्या क्या
कह न सकी, कर्मों का दोष!
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो
मुझे उसी में है सन्तोष।'[3]

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ १९३
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ १९३
[3] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ १९३

उसका कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है। वेगपूर्ण अनुराग और दृढ़ कर्त्तव्य के कारण वह कुछ कह नहीं पाती कि लक्ष्मण सीता के इस कथन को सुनकर कि 'आ पहुँचे पितृपद भी मेरे' बाहर चले जाते हैं। मिलन क्षणिक ही रह जाता है। दुःखिनी उर्मिला को इस क्षणिक मिलन के बाद अथाह विरह मिलता है। विरहिणी आठों पहर चौंसठ घड़ी स्वामी के ध्यान मे दुखी रहने लगती है। सब भोग छूट गये हैं। न व्यंजन अच्छे लगते हैं और न कपड़ों की सुध है। बस प्रिय की मूर्ति ही उसके सामने रहने लगी है। ऐसी दशा में कभी वह प्रकृति से सहानुभूति प्रकट कर अपना मन बहलाती है।

'सींचें ही बस मालिनें, कलश लें, कोई न ले कर्त्तरी,
शाखी फूल फलें यथेच्छ बढ़ के, फैलें लताएं हरी।'[1]

विरहिणी का जीवन वनवास अवधि के भार से तथा कर्त्तव्य-शृंखला से जकड़ा हुआ है। इसीलिये कभी प्रोषितपतिकाओं को बुलाकर अपना समय व्यतीत करने की इच्छा प्रकट करती है।

'प्रोषितपतिकाएँ हों जितनी भी सखि, उन्हें निमन्त्रण दे आ,
समदुःखिनी मिलें तो दुःख बँटे जा, प्रणय पुरस्सर ले आ॥'[2]

वह कभी प्रकृति की ममता कर उनसे प्रेरणा लेती है, कभी चित्र बनाकर मन को शान्त करने की चेष्टा करती है और कभी पुरवालाओं के लिये उपवन में नाना ललित कलाओं की शिक्षा देने की आकांक्षा प्रकट करती है। वह वियोग में आहें भर-भर कर समय समाप्त करने वाली वियोगिनी नहीं, उसका ध्यान सदा उदात्त भावनाओं की ओर रहता है। जो प्रकृति प्रिय-संयोग के समय आनन्ददायिनी थी अब उसे दुखी प्रतीत होने लगती है।

'वह कोइल, जो कूक रही थी, आज हूक भरती है,
पूर्व और पश्चिम की लाली रोष-वृष्टि करती है,

[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ३६६
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २००

उसकी विरह-व्यथा ने कैकेयी जैसी कठोरहृदया को भी द्रवीभूत कर दिया –

'आ, मेरी सबसे अधिक दुःखिनी, आ जा,
पिस मुझ से चंदन लता मुझी पर छा जा।'

उर्मिला अपने त्याग में दृढ़ है यही कारण है कि जब भरत के साथ साकेत-समाज चित्रकूट जाता है और सीता के चातुर्य से उर्मिला का लक्ष्मण से मिलन होता है तो लक्ष्मण उसकी काया की शेष छाया को देखकर स्तम्भित रह जाते हैं।

'यह काया है या शेष उसी की छाया'

प्रिय की ऐसी सशंकित दशा को देखकर उर्मिला कहती है –

'मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी,
मैं बांध न लूंगी तुम्हें, तजो भय भारी।'[1]

कदाचित् उसके उपवन का हरिण वनचारी होने के बाद उपवन में आते हुये डरता है कि कहीं मोह बंधन में न बँध जाऊँ। उर्मिला उन्हें आश्वासन देती है कि मैं तुम्हें बाँधूगी नहीं। कैसी दुःखद स्थिति रही होगी और जब लक्ष्मण संकोच से सिमिट गये होंगे। वे दुःखावेग से पूरित हो उससे कहते हैं।

'वन में तनिक तपस्या करके
बनने दो मुझको निज योग्य।'[2]

वह दुःखिनी तब भी स्वामी से सँभल के कुछ नहीं कह सकी, सब उपालम्भ आँसू होकर गल गये और इतना ही कह पाई –

'हा स्वामी! कहना था क्या क्या
कह न सकी, कर्मों का दोष!
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो
मुझे उसी में है सन्तोष।'[3]

---
[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ १६३
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ १६३
[3] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ १६३

लेता है निःश्वास समीरण, सुरभि धूलि चरती है,
उबल सूखती है जलधारा, यह धरती मरती है।'[1]

बीच-बीच में जब लक्ष्मण का पढ़ाया हुआ शुक बोल पड़ता है

'हाय! रूठो न रानी!'

तो उससे भी यही कहती है कि

'खग, जनकपुरी की ब्याह दूं सारिका मैं?
तदपि यह वहीं की त्यक्त हूँ दारिका मैं।[2]

अन्य पशु-पक्षियों से भी जो लक्ष्मण-वियोग से दुखी हैं, वह सहानुभूति दिखाती है। शशक, कपोत और लालमनियों इत्यादि को निरन्तर धैर्य बँधाती रहती है और उनका ध्यान रखती है। यह उसकी उदारता है कि अपने असहनीय दुःख में भी वेदना को ही अपने जीवन का श्रेष्ठ-तम मानकर चलती है क्योंकि वह प्रिय की स्मृति जगाती रहती है।

'वेदने, तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।'[3]

वह अपने आराध्य के लिये स्वयं आरती बन कर जल रही है।

'मानस-मंदिर में सती, पति की प्रतिमा थाप।
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप॥'[4]

वियोगिनी उर्मिला विरहाधिक्य से आत्मज्ञान खो बैठी है।

'छूट गया पीछे स्वयं उससे आत्मज्ञान!'

और अतीत की स्मृतियों में डूबी प्रलाप करती है। वह कभी सुरभि से अपनी दुःख-कथा कहती है—

'अरी, सुरभि, जा, लौट जा, अपने अंग सहेज,
तू है फूलों में पली, यह काँटों की सेज!'[5]

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २०१
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २०२
[3] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २०३
[4] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ १६५
[5] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २०५

कभी निद्रा को बुलाती है जिससे कुछ समय तो शान्ति मिले।
चातकी से संवेदना प्रकट करती हुई कहती है—

'चातकि, मुझको आज ही हुआ भाव का भान।
हा! वह तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान!'[1]

इसी प्रकार सारिका, नदी और प्रकृति के अन्य विभिन्न अंगों से अपनी दुःख-कथा कहती है। ये सब उसके निकट मित्र हैं।

'गति जीवन में मिली तुझे,
सरिते, बधन की व्यथा मुझे।'[2]

यदि विरह की अवस्था में जब कामदेव उसको विचलित करता भी है तो पहले तो करुण प्रार्थना करती है

'मुझे फूल मत मारो।
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।'[3]

परन्तु वह धृष्ट जब सुनता नहीं तो क्रुद्ध राजपूतनी उसे फटकारती है

'बल हो तो सिन्दूर-बिन्दु यह—यह हर नेत्र निहारो।'[4]

उर्मिला के जीवन में षड्ऋतुएँ दुःख को उद्दीप्त करती आती हैं लेकिन वह उनका भी स्वागत करती है। ग्रीष्म जो परहित चिन्तनलीन है उससे कहती है—

'तपयोगि, आओ तुम्हीं, सब खेतों के सार,
कूड़ा कर्कट हो जहाँ, करो जला कर क्षार।'[5]

उसे शीतलता के बाहरी उपकरणों की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसकी आँखों में तो आँसुओं का पानी ही बहुत है—

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २११
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २६६
[3] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २२७
[4] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २२७
[5] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २०८

'करो किसीकी दृष्टि को शीतल सदय कपूर,
इन आँखों में आप ही नीर भरा भरपूर।'[1]

उसे ग्रीष्मताप लक्ष्मण के तप का प्रभाव जान पड़ता है–

'मन को यों मत जीतो।
बैठी है यह यहाँ मानिनी, सुध लो उसकी भी तो!
इतना तप न तपो तुम प्यारे,
जले, आग-सी जिसके मारे।'[2]

वर्षा तो विरहिणियों को और भी जलाती है लेकिन उर्मिला ने उसका शुभ पक्ष भी लिया है –

'मेरी ही पृथिवी का पानी,
ले लेकर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी!'
× × × ×
'बरस घटा, बरसूँ मैं संग;
सरसें अवनी के सब अंग;
मिले मुझे भी कभी उमंग, सबके साथ सयानी।'[3]

यह जानते हुए भी कि वर्षा विरहाग्नि को प्रज्ज्वलित करती है वह दुःखिनी लोककल्याण का ध्यान रख कर वर्षा से प्रार्थना करती है कि इतना बरसो कि 'सब मृण्मय चिन्मय बनें'।

'जड़ चेतन में बिजली भर दो ओ उद्‌बोधन, बरसो।
चिन्मय बनें हमारे मृण्मय, पुलकांकुर बन, बरसो।
मंत्र पढ़ो, छींटे दो, जागें सोये जीवन, बरसो।'[4]

उसे अपने दुःख की इतनी चिन्ता नहीं है जितनी दूसरों के सुख की। यदि वर्षा सबको सरसाती है– सबको सुख देती है तो उसकी बारी भी

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २०९
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २०९
[3] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २११
[4] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २१२

श्रायेगी। कभी उसे नीप प्रिय समान हँसता दीखता है, तो कभी वह जुगनू को वन मे जाकर उजाला करने को कहती है। कभी प्रकृति को लक्ष्मण की स्मृति-मूर्ति मान कर व्यथा को सजीव रखने के लिए कहती है। शरद ऋतु में चंचल खंजनों को देखकर लक्ष्मण के चंचल नेत्र उसे याद श्रा जाते हैं। हेमन्त से वह कहती है कि अभी मेरा दैन्य देखकर मुझे क्षमा कर दो। लक्ष्मण के आने पर ब्याज सहित तेरा ऋण चुका दूँगी।

'हे ऋतुवर्य, क्षमा कर मुझको, देख दैन्य यह मेरा,
× × × ×
व्याज सहित ऋण भर दूँगी मैं,
आने दे उनको हे मीत,
आया यह हेमन्त दया कर,
देख हमें सन्तप्त समीत ।।'[1]

शिशिर को गिरि वन मे फिरने से रोकती है क्योकि उसका प्रिय वन में है, कहीं उसे कष्ट न हो। पतझड़ उसे अपने सम्पूर्ण जीवन मे व्याप्त दिखाई देता है। वसन्त ऋतु में उत्फुल्ल पुष्पों से उसे कोई रोष नही है, उसे तो मनसिज पर ही क्रोध है।

इसीलिए वह उसे फटकारती है कि यदि तुम्हे अपने सौन्दर्य पर अभिमान है तो मैं उसे अपने पति पर वार सकती हूँ।

'रूप-दर्प कन्दर्प, तुम्हे तो मेरे पति पर वारो,
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो।'[2]

और ये ऋतुयें– उसके अन्तर मे अनेक सोई स्मृतियाँ जगा जाती हैं और उसके मन में प्रिय-मिलन की उत्कट अभिलाषा जाग जाती है।

'आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ।'[3]

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २२०
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २२७
[3] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २३५

लेकिन अवधि से पहले प्रियतम को बुलाकर कर्त्तव्यच्युत करना भी नहीं चाहती। वैसे वह जब कभी सुध-बुध भूल जाती तो प्रियतम के आने की आकांक्षा प्रकट करती है अन्यथा सपनों में भी उनके कर्त्तव्य के प्रति सजग रहती है।

'भूल अवधि-सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी–'आओ !'
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोल कर–'जाओ !'[1]

वह लक्ष्मण के गुणगान करती थकती नहीं। उसे समस्त प्रकृति में उनका सौन्दर्य, प्रकृति के कार्यों में उनके शुभ कर्म रमे हुये दिखाई देते हैं यही कारण है कि ग्रीष्म का तप लक्ष्मण का तप सा जान पड़ता है। कभी प्रियतम की चिन्ता में लीन होकर वह कहती है–

'अब हँसी न हो, और क्या कहूँ ?
तुम व्रती रहो, मैं सती रहूँ।'[2]

उद्वेग से व्याकुल हो सखी से कहती है कि तू कह रही 'वे यहाँ कहाँ ?'

'तदपि दीखते हैं जहां तहां ?
यह यथार्थ उन्माद, भ्रान्ति है।
ठहर तो मिटा क्षोभ, शान्ति है।'[3]

व्याकुलता के आधिक्य से कभी वह प्रलाप करने लगती है।

'अरे हाय क्या से यहां क्या हुआ।
उड़ा ही दिया मन्थरा ने सुआ।'

प्रलाप के आधिक्य से उसके मन में उन्माद-सा छा जाता है। उसे लक्ष्मण अपने निकट दिखाई देने लगते हैं। उन्मादित अवस्था में भी उसे लक्ष्मण की प्रतिष्ठा का ध्यान रहता है। वह घबरा कर लक्ष्मण की कल्पना में उदित मूर्ति से पूछती है कि प्रभु कहाँ, जीजी कहाँ है, जिनके लिए मुझे आपने वन दिया था और फिर उसकी चेतना को धक्का लगता है–

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ १६५
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २४४
[3] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २४५

'वह नहीं फिरे क्या तुम्हीं फिरे?
हम गिरे ग्रहो ! तो गिरे, गिरे।
दयित, क्या मुझे आर्त जान के
अवधि ने अनुक्रोश तान के,
धर दिया तुम्हें भेज आप ही?
यह हुआ मुझे और ताप ही।'[1]

और इस विरह-ताप से उत्पन्न उन्माद की अवस्था ही में कहती है—

'प्रिय, फिरो, फिरो हा! फिरो, फिरो!
न इस मोह की धूम में घिरो।'

विरह के आधिक्य से वह अपने प्राणों में जड़ता अनुभव करती है।

'सुधी न ग्रंक में सींचो, दुःखिनी पड़ी सो रहीं।
स्वप्न में हँसती थी हा, सुधी थी देख रो रहीं॥'

लेकिन चेतना रहते उसे पीड़ा सालती रहती है। प्रियतम के साथ सुख और सुख के साथ उसकी हँसी चली गई है और अब ऐसी दशा है कि वह रो भी नहीं सकती।

'हँसी गई, रो भी न सकूँ मैं—अपने इस जीवन में,
तो उत्कण्ठा है, देखूँ फिर क्या हो भाव-भुवन में।'[2]

इस प्रकार अवधि के अतिभार का भार ढोती हुई उर्मिला प्रियतम की आराधना में स्वयं जल-जल कर आरती बन गई। इस मनोयोगिनी ने लोगों से विमुख होकर आत्मज्ञान खो दिया है। बस ध्यान और चिन्तन यही उसके जीवन के आधार हैं।

'यह विषाद ! वह हर्ष कहाँ अब देता था जो फेरी,
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी॥'[3]

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २४३
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २२४
[3] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २०१

दुखाधिक्य से बार बार जड़ हो जाने पर भी उर्मिला की चेतना स्वदेश-प्रेम, स्वाभिमान और लोक-कल्याण का भाव नहीं भूलती–
समय-समय पर देवर शत्रुघ्न से देश की सुकाल दशा अथवा कपास, ईख, धान आदि की पैदावार और किसानों की कुशलता के विषय में पूछती है–

'पूछी थी सुकाल-दशा मैंने आज देवर से–
कैसी हुई उपज कपास, ईख, धान की ?
बोले– इस बार देवि, देखने में भूमि पर
दुगुनी दया-सी हुई इन्द्र भगवान की ।'[1]

प्रजा भी अपनी रानी के दुख से दुखी है–

किन्तु 'स्वाद कैसा है, न जानें, इस वर्ष हाय !'
यह कह रोई एक अबला किसान की !'[2]

उर्मिला राजमहलों के जीवन से साधारण किसानों का जीवन अच्छा समझती है–

'सच्चा राज्य परन्तु हमारे कर्षक ही करते हैं ।
जिनके खेतों में है अन्न,
कौन अधिक उनसे सम्पन्न ?
पत्नी-सहित विचरते हैं वे, भव-वैभव भरते हैं ।
हम राज्य लिए मरते हैं ।[3]

हनुमान से जब लक्ष्मण के शक्ति लगने की बात अयोध्यावासी सुनते हैं तो रावण से युद्ध करने के लिए तत्पर हो घर से निकल पड़ते हैं –

'अपने ऊपर आप परीक्षा उसकी करके,
आंजनेय ले गये उसे यह अम्बर तरके ।

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २२१
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २२२
[3] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ २२२

लंका की खर-शक्ति आर्य लक्ष्मण ने झेली,'

× × × ×

'अब क्या है, बस वीर, बाण से छूटो छूटो,
सोने की उस शत्रु-पुरी लंका को लूटो।'[१]

लेकिन न्यायप्रिय, सत्य-पथ-गामिनी उर्मिला को यह सहन नहीं होता। वह शत्रुघ्न के पास ऐसे आई जैसे कार्तिकेय के समीप भवानी आई हो। उसके लम्बे-लम्बे केश बिखर रहे थे। घन-घटा सदृश बालों के बीच दीप्त मुख सौ सूर्यों सा आलोकित था। माथे का सिन्दूर अंगार सदृश दमक रहा था। हाथ में त्रिशूल लिये थी। इसी मुद्रा में वह गरजकर बोली–

'नहीं, नहीं, पापी का सोना,
यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना।[२]

और फिर सहज होकर युद्धार्थियों से कहने लगी–

'धीरो धन को आज ध्यान में भी मत लाओ,
जाते हो तो मान-हेतु ही तुम सब जाओ।'[३]

तुम शत्रुओं को ऐसी शिक्षा देना जिसका प्रारम्भ दण्ड और अंत दया और वैराग्य हो।

'जिसका भय हो दण्ड और इति दया-तितिक्षा।'[४]

उर्मिला भी युद्ध में जाने को तत्पर हो जाती है और शत्रुघ्न के यह कहने पर कि क्या हम सब मर गये हैं जो तुम युद्ध के लिए तत्पर हो– तो कहती है।

'वीरो, पर, यह भोग नया क्यों भोगूँगी मैं,
अपने हाथों घाव तुम्हारे धोऊँगी मैं।

[१] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ३१३
[२] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ३१३
[३] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ३१३
[४] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ३१५

पानी दूँगी तुम्हें, न पल भर सोऊँगी मैं,
गा अपनों की विजय, परों पर रोऊँगी मैं।'[1]

उर्मिला के उक्त शब्दों में स्वाभिमान, देश प्रेम, करुणा, न्यायप्रियता, मानवीयता और सेवाभाव का सुखद समन्वय है।

अवधि-शिला का बहुत बड़ा अंश उर्मिला ने काट डाला है, लेकिन उस क्षति का क्या करें, जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती। रावण मारा गया है, अवधि पूर्ण होने वाली है अब उसे अपने देवता लक्ष्मण के दर्शन होंगे, उसके अंग अंग उमंग से भरे हैं, लेकिन जीवन की सुन्दरतम निधि यौवन को कहाँ से लायेगी, जो लक्ष्मण की धरोहर था।

'पर यौवन-उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं ?
वह खोया धन आज कहाँ सखि, पाऊँगी मैं।'[2]

वह सोचती है क्या अब उसे शृंगार साधन सोहेंगे ? नहीं, कदापि नहीं ! वह अपने प्रिय को छलेगी नहीं। जैसा आडम्बरहीन उसका जीवन रहा है उसी रूप में वह अपने प्रिय को समर्पित होगी। वह क्या शूर्पणखा है ? यह बात उसे वर्षों पुरानी लगती है जब वह उर्मिला रानी थी, अब तो वह लक्ष्मण की दासी मात्र है क्यों कि इससे ही सेवा का अधिकार मिलेगा। उसकी यह चारित्रिक विशेषता लक्ष्मण की दृष्टि में ही नहीं वरन् समस्त नारी समाज में उसे शीर्ष-स्थानीय बना देती है। प्रेम आडम्बर में नहीं पनपता वह सरलता और सादगी में शोभा पाता है।

'सखि, यथेष्ट है यह धुली धोती ही मुझको,
लज्जा उनके हाथ, व्यर्थ चिन्ता हैं तुझको।'[3]

और अब वह वनवासी प्रिय के लिये शेफाली के पुष्प चुनने की इच्छा व्यक्त करती है तभी लक्ष्मण आकर कहते हैं –

'किन्तु उसे तो कभी पा चुका प्रिये, अली यह।'

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ३१५
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ३३२
[3] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ३३३

तब उर्मिला दौड़कर प्रिय चरणों में गिर पड़ती है। हर्षातिरेक अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। यह आतुरता हर्ष आवेग उल्लास या आतुरता हर्ष आवेग और उल्लास से मिलन है। दोनों अपनी सुधि भूले हैं।

'पाकर अहा! उमंग ऊर्मिला-अंग भरे थे,
आली ने हँस कहा—कहाँ ये रंग भरे थे?'[1]
× × ×
'लेकर मानों विश्व-विरह उस अन्तःपुर मे,
समा रहे थे एक दूसरे के वे उर मे,
नाथ, नाथ क्या तुम्हें सत्य ही मैंने पाया?'
× × ×
'प्रिये, प्रिये हाँ आज-आज ही—यह दिन आया।'[2]

लेकिन उर्मिला लक्ष्मण से अपने मन की यह कसक कहे बिना नहीं रह सकी कि—

'स्वामी, स्वामी, जन्म जन्म के स्वामी मेरे!
किन्तु कहाँ वे अहोरात्र, वे साँझ-सवेरे!
खोई अपनी हाय! कहाँ वह खिल खिल खेला?
प्रिय, जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती वेला?'[3]

दुःख और आवेग से उसकी देहलता रह-रह कर काँप रही हैं और अश्रु कपोलों पर बह रहे हैं।

वियोगिनी के वियोगावस्था में यौवन ढल जाने के इस पहाड़ से दुःख के लिये लक्ष्मण केवल इतना ही कह पाये—

'धरा-धाम को राम-राज्य की जय गाने दो

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ३३२
[2] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ३३४
[3] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ३३५

लाता है जो समय प्रेम-पूर्वक, जाने दो ।'[1]

राम ने उसकी सराहना की । लेकिन क्या वे उसके दुःख को समझ सके —

'तूने तो सहधर्मचारिणी के भी ऊपर
धर्मसंस्थापन किया भाग्यशालिनि इस भू पर ।'

सचमुच वह त्यागमयी विरहिणी तपस्या, सरलता, स्वाभिमान, शालीनता, व्यवहारकुशलता, दया, क्षमा, धैर्य, साहस, निरभिमानता, पतिपरायणता परिवार, समाज, देश और संस्कृति-प्रेम इत्यादि गुणों से समन्वित हो अपना उदाहरण आप बन गई ।

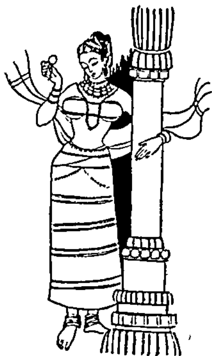


---

१ मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृष्ठ ३३५

महिमामयी

यशोधरा



'अबला-जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी–
आँचल में है दूध आँखों में पानी।'



ग्यारह

साहित्य के क्षेत्र में उर्मिला के समान ही उपेक्षिता यशोधरा है। मानवीय सम्बन्धों के अमर गायक श्री मैथिलीशरण गुप्त के प्राणों में जो स्पन्दन विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के लेखों से हुआ, उससे उनकी अन्तःप्रवेशिनी दृष्टि ने मानव-सुलभ अनुभूतियों की गहराइयों में उतर कर न केवल उर्मिला के दुःख भरे हृदय की ही थाह ली वरन् महिमामयी यशोधरा के आँसुओं से सिंचित मंगलमय व्यक्तित्व के करुणोज्वल चित्र को भी प्रस्तुत किया है। कवि ने स्वयं लिखा है कि 'हाय ! यहाँ भी वही उदासीनता।' अमिताभ की आभा में ही उनके भक्तों की आँखें चौंधिया गई और उन्होंने इधर देखकर भी न देखा। सुगत का गीत तो देश-विदेश के कितने ही कवि-कोविदों ने गाया है परन्तु गर्विणी गोपा की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देखकर मुझे शुद्धोदन के शब्दों में यही कहना पड़ा कि —

'गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको।'[१]

महिमामयी यशोधरा के त्याग को कौन नकार सकता है ? फिर भी उसके चरित्र के विकास को समुचित मान्यता बौद्ध साहित्य में नहीं मिली। द्विवेदी युग से पूर्व हिन्दू कवियों ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया। संस्कृत साहित्य-परम्परा में बुद्ध यद्यपि भगवान् रूप में स्वीकृत हुए किन्तु यशोधरा के महत्त्व को वहाँ भी समुचित स्थान नहीं मिला।

बौद्ध साहित्य में यशोधरा अनुपम सुन्दरी के रूप में प्रस्तुत की गई है। इस अपूर्व सुन्दरी को प्राप्त करने के लिये गौतम को विद्या, बुद्धि और बल-वीर्य का प्रदर्शन भी करना पड़ा[२] और गोपा को उन्होंने प्रतियोगिता में जीत लिया।[३] गोपा को बुद्ध की इस विजय पर गर्व है—

'मेरे लिये पिता ने सब से धीर-वीर वर चाहा,
आर्यपुत्र को देख उन्होंने सभी प्रकार सराहा।
फिर भी हठकर हाय ! वृथा उन्हें उन्होंने थाहा,
किस योद्धा ने बढ़कर उनका शौर्य-सिन्धु अवगाहा ?'[४]

सिद्धार्थ में बाल्यकाल से ही वीतराग के लक्षण प्रकट होने लगे थे। इसीलिये शुद्धोदन ने उनके लिये महलों में सभी प्रकार के विलास-साधन एकत्र किये थे लेकिन जरा, रोग, मृत्यु आदि के दृश्यों से भयभीत होकर एक दिन जब अन्तर में अनेक जटिल समस्याओं को छिपा ये सिद्धार्थ संन्यास लेकर शान्ति की खोज में अनन्त आकाश के नीचे और विस्तृत वसुधा पर रहने चले गये तो सुख-स्वप्नों में भूली हुई यशोधरा अकेली

---

[१] मैथिलीशरण गुप्त, शुल्क, पृष्ठ ५

[२] मैथिलीशरण गुप्त, कथासूत्र, पृष्ठ ६

[३] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३७
'गिरे प्रतिद्वन्द्वी नन्दार्जुन, नागदत्त जिस हय से,
वह तुरंग पालित-कुरंग-सा नत हो गया विनय से,
क्यों न गूँजती रंगभूमि फिर उनके जय जय जय से।'

[४] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३७



ग्यारह

साहित्य के क्षेत्र में उर्मिला के समान ही उपेक्षिता यशोधरा है। मानवीय सम्बन्धों के अमर गायक श्री मैथिलीशरण गुप्त के प्राणों में जो स्पन्दन विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के लेखों से हुआ, उससे उनकी अन्तःप्रवेशिनी दृष्टि ने मानव-सुलभ अनुभूतियों की गहराइयों में उतर कर न केवल उर्मिला के दुःख भरे हृदय की ही थाह ली वरन् महिमामयी यशोधरा के आँसुओं से सिंचित मंगलमय व्यक्तित्व के करुणोज्वल चित्र को भी प्रस्तुत किया है। कवि ने स्वयं लिखा है कि 'हाय ! यहाँ भी वही उदासीनता।' अमिताभ की आभा में ही उनके भक्तों की आँखें चौंधिया गईं और उन्होंने इधर देखकर भी न देखा। सुगत का गीत तो देश-विदेश के कितने ही कवि-कोविदों ने गाया है परन्तु गर्विणी गोपा की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देखकर मुझे शुद्धोदन के शब्दों में यही कहना पड़ा कि –

'गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको ।'[1]

महिमामयी यशोधरा के त्याग को कौन नकार सकता है ? फिर भी उसके चरित्र के विकास को समुचित मान्यता बौद्ध साहित्य में नहीं मिली। द्विवेदी युग से पूर्व हिन्दू कवियों ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया। संस्कृत साहित्य-परम्परा में बुद्ध यद्यपि भगवान् रूप में स्वीकृत हुए किन्तु यशोधरा के महत्त्व को यहाँ भी समुचित स्थान नहीं मिला।

बौद्ध साहित्य में यशोधरा अनुपम सुन्दरी के रूप में प्रस्तुत की गई है। इस अपूर्व सुन्दरी को प्राप्त करने के लिये गौतम को विद्या, बुद्धि और बल-वीर्य का प्रदर्शन भी करना पड़ा[2] और गोपा को उन्होंने प्रतियोगिता में जीत लिया।[3] गोपा को बुद्ध की इस विजय पर गर्व है –

'मेरे लिये पिता ने सब से धीर-वीर वर चाहा,
आर्यपुत्र को देख उन्होंने सभी प्रकार सराहा।
फिर भी हठकर हाय ! वृथा उन्हें उन्होंने थाहा,
किस योद्धा ने बढ़कर उनका शौर्य-सिन्धु अवगाहा ?'[4]

सिद्धार्थ में बाल्यकाल से ही वीतराग के लक्षण प्रकट होने लगे थे। इसीलिये शुद्धोदन ने उनके लिये महलों में सभी प्रकार के विलास-साधन एकत्र किये थे लेकिन जरा, रोग, मृत्यु आदि के दृश्यों से भयभीत होकर एक दिन जब अन्तर में अनेक जटिल समस्याओं को छिपा ये सिद्धार्थ संन्यास लेकर शान्ति की खोज में अनन्त आकाश के नीचे और विस्तृत वसुधा पर रहने चले गये तो सुख-स्वप्नों में भूली हुई यशोधरा अकेली

[1] मैथिलीशरण गुप्त, शुल्क, पृष्ठ ५
[2] मैथिलीशरण गुप्त, कथासूत्र, पृष्ठ ६
[3] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३७
'गिरे प्रतिद्वन्द्वी नन्दार्जुन, नागदत्त जिस हय से,
वह तुरंग पालित-कुरंग-सा नत हो गया विनय से,
क्यों न गूँजती रंगभूमि फिर उनके जय जय जय से।'
[4] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३७

रह गई; अनिश्चित काल तक व्यथा और अपमान को सहने के लिये ! जिसने अपना सब कुछ जिस प्रिय को समर्पित कर दिया उसको इस प्रकार सोता हुआ छोड़कर जाना उस सती-साध्वी के पतिव्रत भाव पर भीषण आघात था। यशोधरा के जीवन की इस करुणा का प्रसंग पहले कहीं नहीं मिलता, केवल इतना प्रसंग आता है कि एक दिन सिद्धार्थ उसे सोता छोड़ गये थे तथा जब सिद्धि प्राप्त कर कपिलवस्तु आये तो वे भिक्षा माँगने यशोधरा के पास भी गये, और उन्होंने राहुल को भी शिष्य बना लिया। गोपा भी भिक्षुणी हो गई। पर क्या इतने से यशोधरा के पहाड़ से दुःख के भार से दबे जीवन के साथ न्याय हो जाता है? कदापि नहीं। यशोधरा और बुद्ध का जो विलासमय रूप तान्त्रिक साहित्य में मिलता है वह सामान्य भारतीय को ग्रहणीय नहीं हो सकता, अतः यह स्पष्ट है कि इस पति-प्रेम-विह्वला और ममतामयी का जो रूप गुप्तजी ने हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है वह अद्वितीय है। सिद्धार्थ ने राम की भाँति यशोधरा से वन जाने की आज्ञा नहीं ली। कदाचित् उन्हें भय था कि गोपा कहीं सीता की तरह उनके साथ चलने को तत्पर न हो जाये, और यशोधरा को यह बात जीवन भर सालती रही। उसे अपनी दृढ़ता पर विश्वास है। वह सम्पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ कहती है कि वह सीता के पथ का अनुसरण न करके भी कर्त्तव्य पालन में प्रसन्न रह सकती थी। वह नारी की सफलता पुरुष को बाँधने में और सार्थकता मुक्त करने में समझती है। उसकी इस क्षमता को उसके प्राणपति ने नहीं पहचाना, यही उसकी व्यथा, वेदना और क्लेश का मूल कारण है –

'सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात;
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?'[1]

[1] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ २४

यही एक कसक है जो उसे कचोटती है, एक दंश है, जो उसके अन्तर और बाहर को आघात देकर आकुल बनाये है। क्या होता है गौतम के मान देने से यदि वे उसके मन को नही पहचान सके और उसे स्वार्थिनी समझा ? क्या वह ऐसी है कि अपनी स्वार्थ-कामना के लिये उन्हें रोक लेती ?

'मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना ?
मैंने मुख्य उसी को जाना,'[1]

यदि गौतम उसे सच्ची वीर-पत्नी समझते तो क्या उससे कह कर नही जाते ? भारतीय नारी तो अपनी इच्छा से प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये पति को सुसज्जित कर रण में भेजती रही है –

'स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को, प्राणों के पण मे,
हमीं भेज देती हैं रण में,
क्षात्र-धर्म के नाते ।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते ।'[2]

विरहव्यथा मे भी संयम, धैर्य, उच्च विचार, सरलता और साधना ने उसे दिव्य बना दिया है । वह अपने प्रिय से क्रोधित नही है और इसीमे अन्त में उसको सान्त्वना मिलती है । वह अपने मन को धैर्य देती है कि गौतम का कोमल हृदय उसके बहते हुये आंसुओं को नही देख सकता था, कदाचित् इसीलिये तरस खाकर वे बिना कहे चले गये हैं ।

'नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते,
पर इनसे जो आंसू बहते,
सदय हृदय वे कैसे सहते,
गये तरस ही खाते !'[3]

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ २४
[2] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ २४
[3] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा पृष्ठ, २५

यदि उन्हें सिद्धि लाभ करने में ही प्रसन्नता है तो वे अवश्य प्राप्त करें। वह तो चाहती है कि उसका दुःख उनके कर्त्तव्य में बाधा नहीं बने। कर्त्तव्यरत गौतम उसे और भी भाते हैं। फिर वह उपालम्भ कैसे दे? वह उन्हें हृदय में बसा कर रखेगी। कहीं ऐसा न हो कि उसके निःश्वास गौतम को वापस खींच लायें और वे कर्त्तव्य-च्युत हो जायें। वह अपने श्वसुर शुद्धोदन को भी यही समझाती है कि —

'उनकी सफलता मनाओ तात, मन से,
सिद्धि-लाभ करके वे लौटें शीघ्र वन से।'[1]

और जब शुद्धोदन उसे कभी धीरा और कभी कठोर कहते हैं तो वह कहती है कि पति-धर्म मुझे इसी दिशा में जाने को प्रेरित करता है —

'धर्म लिये जाता मुझे आज उसी ओर है।'[2]

व्यथा-वारिधि में आकंठ मग्न रहकर भी यशोधरा को यही चिन्ता रहती है कि वह ऐसे विरागी पुरुष की विरागिनी पत्नी कैसे सिद्ध हो। यह कसौटी उसके सामने है जिस पर उसे खरा उतरना है।

'क्योंकर सिद्ध करूँ अपने को मैं उन नर की नारी?'[3]
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।

शायद इसी दिन के लिये सिद्धार्थ ने उसे चुना था और वह अपने रूप-रंग की भर्त्सना करती है।

'भेद चुने जाने का अपने मैंने भी अब जाना।
इस दिन के उपयुक्त पात्र की उन्हें खोज थी सारी।'

× × × ×

'मेरे रूप-रंग, यदि तुझको अपना गर्व रहा है,
तो उसके झूठे गौरव का तूने भार सहा है।'[4]

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३०
[2] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३१
[3] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३७
[4] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३७

बुद्ध तो भौतिक सौंदर्य को सदा परिवर्तनशील समझते रहे हैं।

'तू परिवर्तनशील उन्होंने कितनी वार कहा है –
फूला दिन किस अंधकार मे डूबा और बहा है ?'[1]

साथ ही अपनी पावन अन्तरात्मा की विकारहीनता का प्रसंग देना नही भूलती और कहती है कि यदि बुद्ध आंतरिक सौंदर्य को महत्ता देते थे तो वह भी क्या उसके पास कम है।

'किन्तु अन्तरात्मा भी मेरा था क्या विकृत-विकारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।'[2]

भारतीय नारी के स्वभिमानी रूप के पूर्ण दर्शन उसके व्यक्तित्व मे होते हैं। गौतम ने उसे अबला समझा। पर वह क्या अबला है ? वह क्या दुःख को सहन करने में अशक्त है ? दुःख को सहने के लिये तो मनोबल की आवश्यकता होती है। वह नारी में किसी प्रकार कम नहीं। गौतम यदि उसे इन्द्रियासक्त समझते थे तो वे तो विषयों के नियता थे। क्या इस मायावी संसृति में स्त्री में समस्त विषय ही आये हैं। हाय,

'मैं अबला ! पर वे तो विश्रुत वीर-बली थे मेरे,
मैं इन्द्रियासक्ति ! पर वे कब थे विषयों के घेरे ?
आयि मेरे अर्धाङ्गि-भाव, क्या विषय मात्र थे तेरे ?
हा ! अपने अञ्चल में किसने ये श्रृङ्गार बिखेरे ?'[3]

और जिस नारीरूपिणी मुक्ति के अनुसधान में गौतम गये हैं वह भी तो नारी है। वह उनकी इस विरक्ति पर तीखा मार्मिक व्यंग्य करती है। पर यह व्यंग्य मात्र नहीं, उसके करुण असहाय जीवन की आह भी इस व्यंग्य में ढल गई है –

'है नारीत्व मुक्ति मे भी तो अहो विरक्ति-विहारी'[4]

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३७
[2] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३७
[3] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३८
[4] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३८

यह उन विरक्ति-विहारी पर करारी चोट है जो साधना के पथ पर गये हैं और उसे बाधारूपिणी समझ लिया है। उसके लिये संसार में प्रेम और कहाँ है ? वह अपने अंतर की मार्मिक व्यथा किससे कहे ? ऐसी असहाय अवस्था में भी उसने अवलम्ब खोज लिया है।

'मैं भी नहीं अनाथ जगत में,
मेरा भी प्रभु पति है !'[1]

उसमें पूर्ण आस्था है –

'यदि मैं पतिव्रता तो मुझको
कौन भार-भय भारी ?'[2]

भारतीय सती नारी का आदर्श और अप्रतिम चित्र है यह !

असीम दुःख में सहानुभूति प्रकट करनेवाली अपनी सखियों से भी वह गर्वपूर्ण स्वर में यही कहती है –

'तुम्हें न सहना पड़ा दुःख यह,
मुझे यही सुख आली !'[3]

वधू-वंश की समस्त मर्यादा का भार वधू-जाति की इस सच्ची प्रतिनिधि पर आ पड़ा है। वह तो केवल इतना चाहती है कि कोई उस पर तरस न खाये, केवल यह कामना करे कि वह अपने इस मंगल अनुष्ठान में कृत-कार्य हो। उसके हृदय में कामना की कोई क्षीण रेखा, श्यामा रजनी में जुगनू की भाँति टिमटिमाती है तो यही कि जिस समय गौतम के बुद्धत्व की गुणगाथा चारों दिशाओं में फैल जायेगी तब उसके उच्च जयघोष में इस मूक जीवनोत्सर्ग करने वाली अकिंचन नारी के त्याग की करुण कहानी कहने और सुननेवाला भी कोई होगा ही।

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३८

[2] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३८

[3] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३८

'कहाँ तुम्हारी गुण-गाथा में मेरी करुण कहानी ?'[1]

यशोधरा के इस निरवधि विरह की यही करुण कहानी है, जिसे गुप्तजी ने सुना और उसे करुण स्वर में गाया भी है। यशोधरा साहित्य की विरहिनियों में ऐसी दुःखिनी है, जिसका व्यक्तित्व अपने में अपूर्व और महिमामय है। पति को पुनः पाने की निश्चित आशा नहीं है, फिर भी उसे अपनी साधना के बल पर अटल विश्वास है कि उसके पति एक न एक दिन अवश्य आयेंगे।

'उन्हें समर्पित कर दिये, यदि मैंने सब काम,
तो आवेंगे एक दिन, निश्चय मेरे राम।'[2]

उस दुखिया को विरह की मरणातुल्य पीड़ा हो रही है लेकिन वह मर भी नहीं सकती। पुत्र राहुल का भार देकर गौतम उसे मरने का अधिकार भी नहीं दे गये।

'स्वामी मुझको मरने का भी दे न गये अधिकार,
छोड़ गये मुझ पर अपने उस राहुल का सब भार।'[3]

यशोधरा की व्यथा इतनी प्रबल है कि वह सर्वव्यापी हो गई है—इतनी कि वह सभी ६ ऋतुओं में व्याप्त दिखाई देती है। विभिन्न ऋतुओं में यशोधरा को कहीं प्रियतम की स्मृतिदायक छवि व्याप्त दिखाई देती है तो कहीं अपनी व्यथा प्रतिबिंबित। ग्रीष्मऋतु में, ऐसा प्रतीत होता है मानों एक ओर उसके विरह-ताप से और दूसरी ओर गौतम के तप से पृथ्वी जल रही है।[4] वर्षा वृष्टि में उसे गौतम के दया भरे नैन बरसते दिखाई देते हैं और साथ में ही उसमें किसी के व्यथा से भरे हुए हृदय की धारा शतधा होकर वर्षा-जल के रूप में

[1] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३८
[2] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३६
[3] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ४०
[4] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ४२
'मेरा ताप और तप उनका, जलती है हा ! जठर मही,'

बहती दिखाई देती है।[1] 'शरद आतप' रूप में गौतम का विकास झलकता है। वसन्त का सौन्दर्य-साज भी वही है – सम्पूर्ण प्रकृति आशा-उल्लासमयी है, लेकिन यशोधरा के जीवन-मध्याह्न पर मूर्छा छाई हुई है, फिर भी वह दृढ़प्रतिज्ञ है –

'तन गारूँ, मन मारूँ, पर क्या मैं जीवन भी हारूँ।'[2]

शिशिर में गौतम का त्याग देखकर ही पेड़ों ने अपने पत्ते त्याग दिये हैं और इस प्रकार प्रकृति के सभी उपकरण यशोधरा की बाधा-व्यथा से पीड़ित प्रतीत होते हैं। उसकी व्याकुलता जब अत्यधिक बढ़ जाती है तो वह अपने वनमाली को पुकार कर कहती है –

'ढलक न जाय अर्घ्य आँखों का, गिर न जाय यह थाली,
उड़ न जाय पंछी पाँखों का, आओ हे गुणशाली!
ओ मेरे वनमाली!'[3]

कभी वह चातकी की पुकार पर न्यौछावर होती है तो कभी घोर अंधकार में, कभी प्रभात तो कभी रात्रि की कल्पना करके चौंक-चौंक पड़ती है। यशोधरा का भाग्य अदृश्य के हाथों में है, इसीलिये वह रीतिकालीन विरहिणी नारी नहीं, वह तो सब दुःखों को देव की दया समझ के ही स्वीकार करती है।

'देव, दया तेरी।
जीर्ण तरी, भूरि भार, देख, अरी, एरी!'[4]

---

[1] 'मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ४२
'अरी वृष्टि, ऐसी ही उनकी दया-दृष्टि रोती थी,
विश्व-वेदना की ऐसी ही चमक उन्हें होती थी!
किसके भरे हृदय की धारा,
शतधा होकर आज बही'

[2] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ४३

[3] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ४४

[4] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ४८

यशोधरा गर्विणी और स्वाभिमानिनी है। इसीलिये वह अन्य सामान्य नारियों से भिन्न है। इसीलिये वह विरह में दुखी और तिरस्कृत अनुभव करती है लेकिन दीन-हीन होकर नही। वह एक दिन के लिये भी स्वाभिमान नहीं छोड़ पाती। उसे अपने मातृत्व का अभिमान है। वह मातृत्व से अपने नारी-जीवन को सार्थक समझती है और बुद्ध के सन्यास मार्ग को तुच्छ। उसकी दृष्टि में निष्काम कार्य और कर्त्तव्य-पालन संन्यास धर्म से श्रेष्ठ है। उसने नारी के सृष्टिकारिणी रूप की महत्ता प्रतिष्ठित की है, उसे पुरुष के बराबर महत्ता दिलाने के लिये संघर्ष किया है।

'मैं विफल तभी, जब बीज-रहित हो जाऊँ।
कह मुक्ति, भला, किस लिये तुझे मैं पाऊँ?'[1]

आँचल में दूध और आँखों में पानी लिये वह सब कुछ सहती है।

'अबला-जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी –
आँचल में है दूध और आँखों में पानी'[2]

यशोधरा एक सहज माता है। वह विश्व-कल्याण के विरुद्ध नही, इसीलिये पुत्र राहुल को भी पिता के योग्य बनने की शिक्षा देती है। उसकी सभी मनोरंजक शंकाओं का उत्तर देती है। प्रेम की प्रतिमूर्ति गोपा उस पर कभी नहीं खीझती। खीझना तो दूर रहा वह राहुल के सामने रोती भी नहीं। वह रानी होकर भी राहुल का स्वयं लालन-पालन करती है और इसीलिये उसे संतोष है।

'गोपा गलती है, पर उसका राहुल तो पलता है,
अश्रु-सिक्त आशा का अंकुर देखूं कब फलता है?'[3]

कभी वह राहुल के सामने भी पति के मृषा भ्रांतिमय रूप को स्पष्ट

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १०७

[2] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ४७

[3] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा पृष्ठ ५०

करती है,[1] कभी घायल पक्षी और सिद्धार्थ द्वारा उसके उपचार की कहानी सुना कर उसके मन में दया और न्याय की भावना जाग्रत करती है। कभी-कभी जब राहुल अटपटे प्रश्न करता है तो इसका मन विचलित हो जाता है। राहुल पूछता है कि 'अम्ब, तात कब आयेंगे ?' और जब यशोधरा कहती है कि उसे पूर्ण विश्वास है, वे अवश्य एक दिन आयेंगे तो राहुल कहता है -

'माँ, तब पिता-पुत्र हम दोनों संग संग फिर जायेंगे।
देना तू पाथेय, कुछ प्रेम से विचर विचर कर खायेंगे।'[2]

राहुल की ऐसी बातें सुनकर ही वह दुखी हो जाती है और अपने आपको भाग्य पर छोड़ देती है।

'देखूंगी बेटा, मैं' जो भी भाग्य मुझे दिखलायेंगे,
तो भी तेरे सुख के ऊपर मेरे दुःख न छायेंगे।'[3]

उसे दिनरात यही चिन्ता रहती है कि राहुल स्वस्थ बने इसीलिये वह कभी दूध पीने का आग्रह करती है तो कभी समय पर सोने का। और जब वह कहानी सुनने का आग्रह करता है तो गौतम के जीवन की घटनायें सुना कर उसको उद्बुद्ध करती है। वह सम्पूर्ण रानीपन को देकर केवल राहुल की जननी ही रहना चाहती है।

'बस, मैं ऐसी निभ जाऊँ।
राहुल, निज रानीपन देकर।
तेरी चिर परिचर्य्या पाऊँ।
तेरी जननी कहलाऊँ तो इस परवश मन को बहलाऊँ।'[4]

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ५०
'अम्ब भीति क्या ? मृषा भ्रांति वह,
रह तू रह तू प्रीति-पगा।'

[2] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ५४

[3] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ५४

[4] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ६६

उसने कुमार को वय अनुसार सभी प्रकार की शिक्षाएँ दी हैं। कभी उसे वह स्वावलम्बी बनने का पाठ पढ़ाती है तो कभी पूर्ण ज्ञान-प्राप्ति का आदेश देती है। राहुल अपनी माँ के इस महिमामय रूप को खूब समझने लगा है इसीलिये यशोधरा का पुराना (संयोग समय का) चित्र देखकर वह कहता है—

'यह मूर्ति सुख में भी संकुचित-सी है और तू दुःखिनी होकर भी गौरवशालिनी। यह पवित्र है, तू पावन। क्या इसी अवस्था के परिवर्तन पर तुझे खेद है ?'[1]

यही कारण है राहुल उससे मन बहलाने की चेष्टा करने लगा है। वह उसे वीणा दे कर गाने का आग्रह करता है पर गोपा इसके अतिरिक्त क्या गाती ?

'गा गाकर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान।'[2]

उसे सपने में भी गौतम का सपना ही दिखाई देता है—

'ओहो! कैसा था वह सपना ?
देखा है रजनी में सजनी, मैंने उनका तपना।'[3]
'दया भरी, पर शोणित सूखा,
वर्ण झाँवरा होकर रूखा,
पैठा पेट पीठ में भूखा,
आया मुझे विलपना !
ओहो! कैसा था वह सपना ?'[4]

लेकिन इतने दुःखाघातों के बाद भी उसे विश्वास है कि गौतम पहले उसके और फिर किसी 'पर' के हैं।

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ९३
[2] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ९८
[3] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ११०
[4] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ११०

'पहले हो तुम यशोधरा के,
पीछे होगे किसी परा के,
मिथ्या भय हैं जन्म-जरा के,
इन्हें न उनमें सानो,
चाहे तुम सम्बन्ध न मानो।'[1]

वह कहती है कि हे प्रिय! चाहे तुम कितने ही विरक्त हो, मैं सदा तुम्हारी ही वधू रहूँगी। लेकिन वासना-पूर्ति के लिये नहीं, अपने कुल और घर की मर्यादा के लिये।

'वधू सदा मैं अपने वर की,
पर क्या पूर्त्ति वासना भर की?
सावधान! हाँ, निज कुलघर की
जननी मुझको जानो।
चाहे तुम सम्बन्ध न मानो।'[2]

उसकी पीड़ा से राहुल भी द्रवित हो जाता है और उसके दुख से दुखी हो कर कहता है कि 'माँ', मुझे बता मुक्ति कहाँ है? मैं उसे तेरे चरणों पर बांध कर डाल दूंगा तभी मेरा राहुल नाम सार्थक होगा।'

'कहाँ मिलेगी मुक्ति, बता तो? उसे जीतने जाऊँ,
बाँध न डालूं इन चरणों में, तो राहुल न कहाऊँ।'[3]

पुत्र के इस प्रस्ताव से यशोधरा व्याकुल हो जाती है—

'बेटा, बेटा, नहीं जानती, मैं रोऊँ या गाऊँ,
आ, मेरे कन्धों पर चढ़ जा, तुझको भी न गवाऊँ।'[4]

और पिता पुत्र के बीच कभी रोती और कभी हँसती यशोधरा के लिये राहुल ने ठीक ही कहा है—

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ११३
[2] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ११४
[3] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ११६
[4] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ११६

'रोना-गाना बस यही जीवन के दो अंग;
एक संग मैं ले रही दोनों का रस-रंग।'[1]

वह पति के प्रति एकनिष्ठ है। फिर भी पति के द्वारा की गई उपेक्षा उसे रह रह कर सालती रहती है। उसका दृष्टिकोण निन्दात्मक नहीं है पर वह बार बार संन्यास धर्म की आलोचना करती है और कहती है– हे वनवासी, सच्ची मुक्ति की युक्ति मैं तुम्हें बता सकती हूँ। जो सृष्टि की मूल माता है उसे ही मिटा दो तो चौरासी जन्म ही मिट जायेंगे।

'मुक्ति-युक्ति मुझसे सुन जाओ–
जन्म-मूल मातृत्व मिटाओ,
मिटे मरण-चौरासी!
आओ हो वनवासी।'[2]

हे वनवासी, संन्यासी की तरह तो घर में भी रहा जा सकता था। तुम घर में निर्लिप्त हो ऐसे रह सकते थे जैसे जल में शतदल सरसता है।

'जल में शतदल तुल्य सरसते
तुम घर रहते, हम न तरसते
देखो, दो दो मेघ बरसते,
मैं प्यासी की प्यासी!'[3]

इसी तरह दुःख सहते-सहते एक दिन वह अपूर्व योग आता है जब वियोग संयोग में परिणत होने वाला है। उसका हृदय आनन्द से पूर्ण है। सास-श्वसुर उसकी साधना की सराहना करते हैं कि सिद्धार्थ से मिलने के लिये वे जगती के पार भी जा सकते हैं। उसे भी आदेश देते हैं कि बेटी, तू भी तैयार हो जा, लेकिन उपेक्षिता यशोधरा ने उनकी बात नहीं मानी। पति के आने पर वह उनसे मिलने नहीं जाती है और स्पष्ट कहती है–

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ११७
[2] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ११८
[3] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ११९

'किन्तु तात! उनका निदेश विना पाये मैं,
यह घर छोड़ कहाँ और कैसे जाऊँगी ?'[1]

यदि उन्हें इष्ट होगा तो वे स्वयं मुझे बुलाकर चरणों में स्थान देंगे।

'जब उन्हें इष्ट होगा, आप आके अथवा
मुझको बुलाके, चरणों में स्थान देंगे वे।'

उसकी तीव्र मिलनेच्छा है फिर भी स्वाभिमान ने और मर्यादा ने उसके पाँवों में बेड़ियाँ डाल दी हैं।

'फिर भी जहाँ मैं, आप इच्छा रहते हुये,
जाने नहीं पाती ! यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठी रहती मैं ? छान डालती धरित्री को।'[2]

यशोधरा केवल वासना-पूर्ति का साधन नहीं, उसका भी सामाजिक सम्मान है। वह सहयोगिनी और साथी के रूप में भी अपना छिना हुआ अधिकार वापस चाहती है। इसीलिये अपने सुधा-सिंधु को सामने देख कर भी वह प्यासी है।

'प्यासी मरती हूँ; हाय ! इतना अभाग्य भी
भव में किसी का हुआ ? कोई कहीं ज्ञाता है।'[3]

वह प्रिय-मिलन पर उन्हें बन्धन ही देना चाहती है। इसीलिये कहती है—

'तुच्छ न समझो मुझको नाथ,
अमृत तुम्हारी अंजलि में तो भाजन मेरे हाथ।'[4]

उसे यही दुख है कि गौतम के मन में समस्त जगत् के प्राणियों के लिये करुणा है और गोपा के लिये उसमें से कुछ भी नहीं।

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १२४
[2] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १२५/१२६
[3] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १२६
[4] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १२८

'निज हैं उन्हें अन्य जन सारे,
भव पर विभव उन्होंने वारे,
पर हा ! उलटे भाग्य हमारे,
निज भी हुये पराये।
फिर भी नाथ न आये !'[1]

से-जैसे समय सरक रहा है, उसका भय बढ रहा है। कब तक उसकी
रह-जर्जर काया प्रतीक्षा करे ?

'तुम स्वच्छन्द, यहाँ आने में होगा क्या यति भंग ?
अपना यह प्रबन्ध भी देखो – अग्नि सलिल का संग ?'[2]

व राहुल बार बार पूछता है कि पिता वन से लौटे आये फिर भी
हाँ क्यों नहीं आये ? माँ से कहता है तुम क्यों मान किये बैठी हो,
। वह कहती है –

'तुमको मनाना पड़ता है, तू अजान है;
प्रभु के निकट ही तो मूल्य पाता मान है।'[3]

फिर जैसे ही सुनती है कि गौतम आ रहे हैं तो बार-बार अपने
न को चेतावनी देती है कि –

'रे मन, आज परीक्षा तेरी।
विनती करती हूँ मैं तुझसे, बात न बिगड़े मेरी।'[4]

शोधरा की बात रह जाती है। उसका मन परीक्षा की कसौटी पर नी
रा उतरता है।

गौतम आकर उससे क्षमा याचना करते हैं –

'मानिनि, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान !
दानिनि, आया स्वयं द्वार पर यह तव-तत्रभवान !

× × × ×

मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १३०
मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १३१
मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १३८
मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १४०

क्षमा करो सिद्धार्थ शाक्य की निर्दयता प्रिय जान,
मैत्री-करुणा-पूर्ण आज वह शुद्ध बुद्ध भगवान।'[१]

क्षमा मांगते सुन यशोधरा पुलकित हो जाती है, अन्त में वह विजयिनी होती है –

'नाथ, विजय है यही तुम्हारी,
दिया तुच्छ को गौरव भारी।
अपनाई मुझ-सी लघु नारी,
होकर महा महान!'[२]

अब उसकी इच्छा है कि वह पति की तपस्या पर अकेले अधिकार कर स्वार्थिनी नहीं बनेगी। उसकी तो यही आकांक्षा है कि सभी प्राणी उसका रसास्वादन करें।

'उनके श्रम के फल सब भोगें
यशोधरा की विनय यही,
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा व्यथा सही।'[3]

गौतम आकर जब उसे अभय देते हैं तो वह कहती है –

'मै पद-पद्मों पर ही वारी।
चरणामृत करके ये खारी
अश्रु करूं अब पान।
पधारो, भव भव के भगवान!'[४]

लेकिन गौतम उसे दीन-हीन होने से रोकते हैं।

---

[१] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १४३

[२] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १४३

[3] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ४३

[४] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १४५

'दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कमी'
भूत-दया-मूर्ति वह मन से, शरीर से ।[1]

वे यहाँ तक मानते हैं कि तपस्या में बाधा डालने वाली अप्सराओं के प्रभाव से वे यशोधरा के कारण ही मुक्त रहे हैं। यही उसकी सार्थकता है।

'अप्सरा-अनीकिनी सजाये हेम-हीर से ।
तुम तो यहाँ थी, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ
जूझा, मुझे पीछे कर, पंचशर वीर से ।'[2]

यह उस स्वाभिमानिनी की सबसे बड़ी विजय थी कि तपस्या के बाद भी बुद्ध ने स्वीकारा कि उनके निकट यशोधरा से अधिक सुकुमारी कोई नहीं।

'मेरे निकट तुम्हारी
तुलना में अन्य कौन सुकुमारी।'[3]

विरह-अवधि में स्वाभिमान और प्रेम का पन बनाये रखने वाली यशोधरा प्रिय-मिलन के अवसर पर अद्भुत त्याग का परिचय देती है। पति के गौरव ज्ञान के सामने अपने एकमात्र पुत्र को समर्पित कर देती है, और पति से राहुल को भी धर्म में दीक्षित करने की प्रार्थना करती है। इस प्रकार यशोधरा ने अपनी अमूल्य निधि राहुल को पति को समर्पित कर दुगने त्याग का परिचय दिया है।

'तुम भिक्षुक बन कर आये थे, गोपा क्या देती स्वामी ?
था अनुरूप एक राहुल ही, रहे सदा यह अनुगामी ।।
मेरे दुख में भरा विश्वसुख, क्यों न भरूँ फिर मैं हामी !
बुद्धं शरणं, धर्मं शरणं, संघं शरणं गच्छामि ।'[4]

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १४५
[2] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १४५
[3] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १४५
[4] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १४७

यह दुःखिनी संन्यासी रूप में ही पति को पाकर सन्तुष्ट हो गई है और पुनः विलासी जीवन की कामना नहीं करती। इस प्रकार यशोधरा के जीवन का प्रत्येक पक्ष करुण, उज्ज्वल और गम्भीर है। वह महिमामयी विरह में भी धीर-गम्भीर है और मिलन में भी। वात्सल्य में कर्त्तव्य-रत और गृहस्वामिनी के रूप में भी। उसमें स्वाभिमान है पर मिथ्या अहंकार नहीं, शान्ति संचय प्रेरित निर्मलता है पर जड़ता नहीं। गरिमा है पर दम्भ नहीं। यही कारण है वह वज्र से भी दृढ़ और कुसुम से भी कोमल करुण नारी है। यही कारण है कि उस उदार करुण आत्म-संयमी नारी के सामने परंपरा से विपरीत गौतम का ज्ञान-ध्यान फीका सा लगता है। द्विवेदी-पूर्व युग ने गोपा को बिना गौतम के ग्रहण किया था और अब यशोधरा के सृजन के बाद गोपा बिन गौतम किसी को ग्राह्य नहीं हो सकते।

'गोपा-बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको !'[1]

यशोधरा के इसी करुणोज्ज्वल त्यागमय व्यक्तित्व के स्वाभिमान, निष्ठा और निष्काम कर्त्तव्यपरायणता के सामने गौतम को भी हतप्रभ होकर झुकना पड़ता है।



[1] मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १२६

पीयूषस्रोत सी मधुर

श्रद्धा



नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में;
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल मे।



बारह

भारतीय संस्कृति के सफल चित्रकार जयशंकर प्रसाद की उर्वर कल्पना ने ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद् तथा वैदिक साहित्य में विचरण कर 'कामायनी' के उपकरण जुटाये हैं। श्रद्धा इसी 'कामायनी' महाकाव्य की नायिका है।[1] वह प्रसादजी की श्रेष्ठतम

[1] वैदिक साहित्य में उसके वैयक्तिक स्वरूप की अधिक चर्चा नहीं मिलती। सर्वत्र उसकी भावमूलक व्याख्या ही अधिक मिलती है। ऋग्वेद में श्रद्धा को देवता तथा ऋषिका दोनों रूपों में माना है। वृहद्-देवता में श्रद्धा की गणना उषा आदि देवियों के साथ की गई है और उसे श्री, मेधावाक, सूर्या, सावित्री आदि के साथ ऋषिका भी बतलाया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण उसे मनोकामना पूर्ण करने वाली, संसार का भरण-पोषण करने वाली सम्पूर्ण भुवनों की अधिपत्नी कहा है। छान्दोग्य उपनिषद् में श्रद्धा शक्तिरूपा है। वाचोपनिषद् में महा त्रिपुर सुन्दरी, सरस्वती, सावित्री, कामकला आदि नाम भी दिये गये हैं। इन सब ग्रन्थों के आधार पर प्रसादजी ने श्रद्धा की विशेषताओं को जुटाया है।

अनुभूतियों के जल-कणों से पूर्ण भाव-सरोवर में खिला सुन्दरतम कमल है। पवित्र, प्रफुल्ल और शुभ। श्रद्धा के प्रथम दर्शन हमें वहाँ होते हैं, जहाँ प्रलय-सिन्धु की क्रुद्ध लहरियों ने मनु को उत्तर-गिरि पर फेंक दिया है। सांस्कृतिक अभिरुचि और कलापूर्ण जीवन की आकांक्षा से प्रेरित काम गोत्रजा श्रद्धा घूमती फिरती आती है, सागर से फेंकी हुई मणि के समान मनु के प्रथम दर्शन करती है और प्रश्न करती है ?

'कौन तुम ? संसृति-जलनिधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक ?'

प्रथम दर्शन में मनु ही नहीं, पाठक भी श्रद्धा के व्यक्तित्व से अभिभूत हो जाते हैं। भारतीय नारी की सम्पूर्ण लज्जा, मधुरता और करुणा से युक्त श्रद्धा फूलों से आवृत लता सी सुन्दर कोमल और मोहक है। उसका लम्बा उन्मुक्त काया वाला व्यक्तित्व आन्तरिक शालीनता के प्रतिरूप-उदारता, सदाशयता, महानता आदि गुणों से युक्त है। गांधार देश के नील रोम वाले भेड़ो की चिकनी खालों के नील परिधान से आवृत उसके शरीर के कुछ भाग खुले, कुछ अधखुले और कुछ ढके हैं। सम्पूर्ण रूप में श्रद्धा, अनुपम ओज और दिव्य कान्ति से पूर्ण, ऐसी जान पड़ती है मानों बादलों के समूह में बिजली का फूल खिला हो। उसके कधों पर टिके और मुख पर घिरे घुंघराले बाल ऐसे जान पड़ रहे हैं मानों मेघ शिशु चन्द्रमा के पास सुधा का पान करने के लिए एकत्र हो। उसके अधरो पर मुस्कान किसलय पर विश्राम करती हुई उज्ज्वल किरण सी जान पड़ती है। ऐसा मोहक, कान्ति-सम्पन्न, मधुर, उत्फुल्ल व्यक्तित्व लेकर जब वह मनु के समक्ष आती है तो मनु का मन आनन्द की रसधारा में निमग्न हो जाता है। उनके नीरस पतझड़मय जीवन में बसन्त का संदेश संचरित हो जाता है। आनन्द की कोमल कुहकने लगती है और निराशा के अन्धकार को

चीरती आशा की किरण विकीर्ण हो उठती है। उनका शापित-तापित जीवन श्रद्धा के सौन्दर्य प्रभाव की शीतलता से शान्ति पाने लगता है। वे उस नित्य यौवन-छवि से दीप्त करुण कामना मूर्ति के स्पर्श आकर्षण से अभिभूत हो जाते हैं। उनके जीवन में भी इस सौन्दर्य-शक्तिमयी के सम्पर्क से जीवन-शक्ति का उद्दाम उन्मेष होता है।

श्रद्धा, जो प्रकृति के बीच पली कन्या है, हिमालय के भव्य वैभव के प्रति उसका प्यार एकरूप है। इसीलिए जब सिन्धु का अपार जल क्षुब्ध होकर तलहटी से टकराने लगता है, तब प्रलय उपस्थित होता है। ऐसे समय में भी वह साहसशीला प्रकृति के बीच रमी रहती है, और मनु को भी सहारा देती है, कहती है, 'हे तपस्वी, तुम्हें क्लांत नहीं होना चाहिए। तुम क्यों वेदना में डूबे हुए हो? क्यों हताश हो?[1] 'तुम कर्मक्षेत्र से डर कर भाग रहे हो? यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है। मंगल से मंडित होकर काम संसार की सृष्टि का कारण बनता है। तुम यह भूल कर अपने भवधाम (लौकिक जीवन) को निरर्थक, नीरस और सारहीन बना रहे हो और जिस काम को तुम भ्रम-वश अभिशाप और संसार की ज्वालाओं का मूल कारण समझ रहे हो, वह ईश्वर का रहस्यमय, मधुमय वरदान है।'[2] श्रद्धा ही पलायनवादी मनु को जीवन-संग्राम की ओर उन्मुख करती है। आकांक्षाओं एवं जीवनादर्शों की प्राप्ति के लिए सहर्ष कटिबद्ध होने का संदेश देती है। प्रगति की तरह नित-नूतन के अभिनन्दन का आवाहन करती है और विपुल प्राकृतिक सम्पत्ति का उपभोग करने का सन्देश देती है—

'एक तुम, यह विस्तृत भू खंड
प्रकृति वैभव से भरा अमंद;
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द।'[3]

---

[1] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ ४६
[2] जयशंकर प्रसाद, कामायनी पृष्ठ ४७
[3] जयशंकर प्रसाद, कामायनी पृष्ठ ४९

मनु, जो अपने ही एकान्त जीवन के बोझ से दबे जा रहे थे, उन्हें अपना साहचर्य समर्पित कर, श्रद्धा उनके आत्मविकास में सहायक बनती है। वह सेवा को जीवन का चरम लक्ष्य और समर्पण को 'सेवा का सार' मानती है। मनु की जीवन-नौका के लिए वह आत्म-समर्पण रूपी पतवार देती है। दया, माया, ममता, माधुर्य और अपरिमित विश्वास मनु को देकर वह शील-शक्तिमयी भारतीय नारी का आदर्श उपस्थित करती है।

'दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिये खुला है पास।'[1]

श्रद्धा का आत्म-समर्पण लोक-मंगल और विश्वप्रेम के भाव से परिचालित है। वह मनु को सहयोग देकर, निर्भय कर, नई मानवीय संस्कृति का निर्माण करती है–

'बनो संसृति के मूल रहस्य
तुम्हीं से फैलेगी यह बेल,
विश्व भर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।[2]

ऐसी मानवीय सृष्टि का निर्माण करो जिसमें मानव को असफलता का सामना न करना पड़े, जिसमें मानवता दृढ़, साहसी, पुरुषार्थी, और धैर्यशाली बन विजयिनी हो जाय। इस प्रकार नारीत्व की शाश्वत प्रवृत्तियों की प्रतीक श्रद्धा, प्रकृति की गोद में वास होने पर भी, स्वयं सुसंस्कृत है, और जब मनु उसके सम्पर्क में आते हैं तो उन्हें भी अपनी आत्मा के प्रकाश से दीप्त करती है। इसी आत्म-समर्पण के बल पर

---

[1] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ ५०

[2] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ ५०

श्रद्धा समस्त मानव-जाति को जीत लेती है। वह विषमता में समन्वय, विविधता में एकता और भिन्नता में अभिन्नत्व स्थापित करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहती है। वह आदर्श पत्नी एवं सच्ची प्रणयिनी है। इसीलिए जब मनु मननशील हैं तो वह कर्मशीला। मनु काम के संदेश पर चिंतन करते हैं तो वह गृहलक्ष्मी धन-धान्य, पशु आदि अनेक साधन जुटा कर दाम्पत्य जीवन को सुख-वैभवमय बनाने में तन्मय है। ममतामयी श्रद्धा का दुलार अपने पालित-पशु के प्रति भी अटूट है। मनु जब भव-लहरियों की टकराहट से आहें भरने लगते हैं तो श्रद्धा उनका ध्यान प्रकृति की ओर आकर्षित करती है। श्रद्धा के इस कार्य में उसका आत्म-संयम मुखरित है और मनु को अविवेक से बचाने की आकांक्षा भी। मनु जब श्रद्धा के रूप में अपने जन्म-जन्मातर की सहचरी को पहचान जाते हैं तो अपने जीवन की समस्त साधना का उत्साह, चेतना और कामनायें उसे समर्पित कर देते हैं—

'आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान।
विश्व रानी सुन्दरी नारी! जगत की मान।'[1]

दोनों का मिलन होता है। माधुर्य पूर्ण लज्जा, किंचित् चिन्ता और उल्लास से परिपूर्ण होकर श्रद्धा के हृदय का आनन्द नाचने लगता है। आत्म-समर्पण के समय भी उसे केवल यही ध्यान है कि क्या वह अपने आपको स्नेह-दान के उपयुक्त सिद्ध कर सकेगी—

'किन्तु बोली 'क्यों समर्पण आज का हे देव!
बनेगा चिर-बंध नारी हृदय हेतु सदैव।
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान!
वह, जिसे उपभोग करने में विकल हों प्रान?'[2]

श्रद्धा के हृदय में (छायामूर्ति के रूप में) लज्जावृत्ति उदित होती है और प्रसादजी ने लज्जा द्वारा श्रद्धा के सम्पूर्ण नारीत्व का चित्र प्रस्तुत

[1] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ ७४
[2] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ ७५

करवा दिया है। हे नारी तुम केवल श्रद्धा हो। तुम पुरुष के विश्वास-रूपी चाँदी के पर्वत के चरणों में स्थित जीवन की सुन्दर तथा समतल भूमिपर अमृत-जल की स्रोतस्विनी की भाँति निरन्तर बहती रहो—पुरुष की विश्वासभाजी बन कर जीवन को प्रिय, सरल, सुन्दर और सुखमय बनाती रहो।

'नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में;
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।'[1]

श्रद्धा के इस उद्देश्य में नारी जीवन की सम्पूर्ण सार्थकता प्रतिफलित होती दिखाई देती है। इसी उद्देश्य को लेकर श्रद्धा चिरन्तन सांस्कृतिक द्वन्द्व की शान्ति का साधन बनती है। समर्पण और आत्मदान को चरम सुख और वैभव मानती हुई जीवन की महानता की ओर अग्रसर होती है।

'आँसू से भींगे अंचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा,
तुमको अपनी स्मित रेखा से
यह संधि पत्र लिखना होगा।'[2]

और एक दिन मनु उसके पाले हुए पशु की बलि कर देते हैं तो श्रद्धा का मन हाहाकार कर उठता है। वह करुणामयी मनु से कहती है कि जो प्राणी बचे हुए हैं उन्हे भी जीने का अधिकार है। सर्वस्व ले लेना ही तुम्हारा लक्ष्य होगा तो उसमें भवता के अतिरिक्त क्या बचेगा ?

'मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी, उज्ज्वल नव मानवता !
जिसमें सब कुछ ले लेना हो हंत ! बची क्या भवता !'[3]

---

[1] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ ८४
[2] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ ८४
[3] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ १०२

मनु जब यह कह कर कि अपना सुख भी श्रद्धे ! तुच्छ नहीं है; दो दिन के इस जीवन का वही चरम सब कुछ है और उसे भी संकीर्ण अहंकार मूलक व्यक्तिवाद में बांधना चाहते हैं तो श्रद्धा कहती है कि स्वार्थभाव को सर्वोपरि मान लिया जाय तो सृष्टि के नव विकास का मूल स्वरूप ही विकृत हो जायेगा। अपने में ही सब कुछ भर कर व्यक्ति कैसे विकास कर सकता है ? एकान्त स्वार्थ भीषण है और वह लोक और विश्व का कल्याण चाहने वाली मनु से कहती है—

'औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ।'[1]

यदि तुम दूसरे प्राणियों के दुःख से मुँह मोड़ लोगे तो संसार को सुख सुगंधि से वंचित कर दोगे। सुख से किसी का हृदय-सुमन न खिला तो यह अपूर्ण रहेगा। वह अन्नों के संग्रह में रुचि लेती है बीज इकट्ठे करती है और सूत कातती है। भावी जननी के रूप में भी श्रद्धा माधुर्य से ओतप्रोत है। गर्भ-खिन्ना श्रद्धा के मुख से उद्वेग बेचैनी तथा व्याकुलता भरी प्रेम की कुशल सूक्तियों को न सुन कर मनु श्रद्धा में प्रेम की कमी अनुभव करते हैं। श्रद्धा से जब वे पूछते हैं कि पहनने के लिये शावक-चर्म और खाने के लिये पशु-मांस पर्याप्त है तो वह क्यों अन्न बीनती है और क्यों सूत कातती है, तो श्रद्धा कहती है कि जो पशु जीवित रह कर हमारा उपकार कर सकते हैं, वे उपयोगी बनकर जीवित क्यों न रहें ? दया, माया और ममता की मूर्ति श्रद्धा को हिंसा स्वीकृत नहीं। वह अपने मातृत्व की गरिमा में लीन आगामी शिशु की कल्पना में आनन्द पाती है, लेकिन मनु को यह स्वीकार नहीं। उन्हें अनन्य प्रेम चाहिये। वे श्रद्धा से विरत होकर

---

[1] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ १०४

स्वतंत्र जीवन-यापन के लिये चले जाते हैं। श्रद्धा की करुण पुकार पर भी नही रुकते –

'रुक जा, सुनले ओ निर्मोही!
वह कहती रही अधीर श्रान्त।'[१]

मनु चले जाते हैं, लेकिन श्रद्धा उनकी याद में कृशकाय होती हुई भी उनकी कल्याण-कामना मे ही जीवन की सार्थकता समझती है। बीच में कुमार का भोला बचपन उसके जीवन में वात्सल्य को जाग्रत कर उसके मन में मनु की याद को और भी तीव्र कर देता है। मनु के चले जाने से डरी हुई श्रद्धा कुमार को कुछ भी करने से नही रोकती। कही वह भी अपने पिता की तरह रूठ न जाये और जब निरन्तर प्रतीक्षा करने पर भी उसका प्रिय नहीं लौटता तो वह हृदय कड़ा कर विरह के सब दुःख सहन करती है। श्रद्धा के छोटे से जीवन के वे हलके तथा मधुर-मधुर पल वियोग की घड़ियों में स्मृतियों के रूप में जल-जल उठते हैं, उसे व्यथा देते हैं। उसके जीवन में करुणा का स्वर प्रवाहित होने लगता है और रात में भी प्रियतम के स्मृति-चित्र में निमग्न रहती है। एक दिन जब वह अपने पुनीत पातिव्रत्य के प्रताप से स्वप्न में सारस्वत प्रदेश में घायल मनु को देखती है तो उनकी सेवा शुश्रूषा करने पहुँच जाती है –

'अरे बता दो मुझे दया कर
कहाँ प्रवासी है मेरा?
× × ×
रूठ गया था अपनेपन से
अपना सकी न उसको मैं,
वह तो मेरा अपना ही था
भला मनाती किसको मैं।'[२]

---

[१] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ १२०
[२] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ १६२

वरह के कारण कुसुम-वसुधा पर पड़ी कामायनी में अब 'मकरंद' नहीं, ज्वल दो चार रेखाएँ शेष हैं। टूटी हुई पंखुड़ियों और लुटे हुये पराग गाली मुरझाई हुई कली सी श्रद्धा, सारस्वत नगर में वहीं पहुँचती है. जहाँ मनु घायल पड़े हैं। वह मनु की उपेक्षा को भूलकर उनके आहत शरीर को सहलाती है। मनु का विषाद मिट जाता है, उन्हें सच्चा अवलम्ब मिलता है। वे वेदना, परिताप, विक्षोभ और अवसाद से मुक्त हो उच्च-नवजीवन की ओर अग्रसर होने के लिये जागरूक हो जाते हैं।

'श्रद्धा ! तू आ गयी भला तो
पर क्या मैं था यहीं पड़ा !
× × ×
'वह तू कौन ! परे हट, श्रद्धे !
आ कि हृदय का कुसुम खिले।'[1]

मनु श्रद्धा का पुनः संबल पा उसके साथ चलने को तत्पर हो जाते हैं –

'ले चल इस छाया के बाहर
मुझ को दे न यहाँ रहने।'[2]

मनु अपनी भूल मान जाते हैं और बार-बार श्रद्धा की प्रशंसा करते हैं- 'हे श्रद्धे, तुम्हारे दिव्य-सौन्दर्य ने ही मेरे शून्य-हृदय को वैभवशाली बनाया है। तुम्हीं ने मुझे सब से मेल करके चलना सिखाया है। तुम्हीं ने संतोष का पाठ पढ़ाया है, इत्यादि।' मनु कहते हैं कि 'मैं तुम्हारी उस कल्याणमयी माया के रहस्य को समझ नहीं सका था।' अन्त में वे ग्लानि से भर कर इतने लज्जित होते हैं कि वहाँ से भी भाग जाते हैं। इड़ा श्रद्धा से इतनी प्रभावित होती है कि उससे कहती है–'मुझे तुम्हारी क्षमा ही प्राप्त हो, विरक्ति या उपेक्षाभाव नहीं ताकि मेरी सोई चेतना जाग सके।' त्यागमयी, विश्वासमयी श्रद्धा के मन में अपने

---

[1] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ १६७

[2] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ १६७

प्रीतम को छीन लेने वाली इड़ा के लिये भी किसी प्रकार का द्वेषभाव नहीं, वह अपनी एकमात्र सम्पत्ति, अपने स्नेह का एकमात्र अवलम्ब मानव को, सम्पूर्ण विश्वास के साथ उसे दे देती है और दुःखी पुत्र को भी यही (आशीर्वाद) देती है कि वह मानव-समाज के भाग्योदय में सहायक बने। वह स्वयं मनु को ढूंढने चल देती है और एकान्त, शान्त गुफा में उन्हें पुनः पा भी लेती है। मनु उसकी विकाररहित उदार-मूर्ति को तुरन्त पहचान लेते हैं। मनु के समक्ष उसकी क्षमा, कातरता सर्वहित-कामना स्पष्ट हो उठती है। श्रद्धा उनकी पथ-प्रदर्शक और गुरु भी बनती है। मनु को आनन्द-लोक में ले जाकर उनके तमसाच्छन्न मन में ज्ञान का अनुपम आलोक विकीर्ण करती है।

'यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज संबल;
सब पाप पुण्य जिसमें जल जल,
पावन बन जाते हैं निर्मल;
मिटते असत्य से ज्ञान लेश
समरस अखंड आनन्द वेश !'[1]

पथ में बीच-बीच में जब भी मनु घबराते हैं तब वह उन्हें सहारा देती है।

'हम बढ़ दूर निकल आये अब
करने का अवसर न ठिठोली।'[2]

सेवा-भावना से प्रेरित हो उनके हृदय में आशा और विश्वास की पुनः स्थापना करती है। श्रद्धा अपने दृढ निश्चय और विश्वास की छाया में, अपने जीवन की धूप-छाँव में, सदैव एकरस रहती है, श्रद्धा के जीवन में इच्छा, ज्ञान एवं कर्म का ऐसा सुखद समन्वय है जिससे वह घोर संघर्ष के क्षणों में भी आनन्दित बनी रहती है। श्रद्धा
मात्र से इच्छा, ज्ञान एवं कर्म के बिन्दुओं का एकीकरण

[1] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ १६३
[2] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ १६६

'महा ज्योति रेखा सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें ।' [1]

जीवन में संघर्ष, विप्लव, और अतृप्त तृष्णा का मूल कारण है, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के बिन्दुओं का अलग-अलग होना –

'ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की ।' [2]

इन तीनों का समन्वय जीवन में सुख और शान्ति लाता है । पथ-प्रदर्शिका श्रद्धा अस्थिर, आकुल मनु को संबल देती हुई इच्छा, ज्ञान और कर्म के प्रदेश में घुमा कर आनन्द के उस केन्द्र-बिन्दु पर ले जाती है, जहाँ इन तीनों का एकीकरण होता है । मनु को ही नहीं, अपने पीछे आते हुये इड़ा तथा उसके साथियों के माध्यम से समस्त मानवता को भी वह यही संदेश देती है । यही कारण है कि अंत में इड़ा भी उसकी ममता के वशीभूत हो धन्य हो गई है और मानने लगी है कि इच्छा, ज्ञान एवं कर्म की भावनाओं का अलग-अलग रहना ही विप्लव, संघर्ष एवं अशान्ति का कारण है ।

मनु जब सब तरह जीवन से हार जाते हैं तो शक्ति-रूपा श्रद्धा ही उन्हें सहारा देती है ।

'घबराओ मत यह समतल है देखो तो, हम कहाँ आगये,
मनु ने देखा आँख खोल कर जैसे कुछ कुछ त्राण पा गये ।'[3]

---

[1] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ २०६ ·

[2] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ २०६

[3] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ १९७

श्रद्धा मनु को ही नहीं सम्पूर्ण मानवता को उठाने वाली है। उसका व्यक्तित्व सर्वथा उच्च मानवता की भावनाओं पर प्रतिष्ठित है। इसीलिये उसके जीवन का लक्ष्य विश्वप्रेम है, मनुष्यों को मानवता के उच्च आदर्शों से अनुप्राणित करना है, उन्हें पशुता के धरातल से ऊँचा उठा कर देवत्व की भूमि में प्रतिष्ठित करना है। यही कारण है कि साधारण मानव-मनु भी उसके संसर्ग से ऋषि की स्थिति तक पहुँच कर यह कहते पाये जाते हैं।

'शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है,
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।' [1]

श्रद्धा ही जगत् की मंगल-कामना है।

'वह कामायनी जगत की
मंगल कामना अकेली;
थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित
मानस तट की वन बेली।' [2]

श्रद्धा व्यक्ति, परिवार, समाज, देश, संस्था सभी को आनन्द देती है।

'समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखंड घना था।' [3]

श्रद्धा उन समस्त कोमल भावनाओं से सम्पृक्त चेतनाशक्तिरूपा नारी है जो आदि-पुरुष को आनन्द देती है। यह आनन्द संकुचित

[1] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ २१५
[2] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ २१६
[3] जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ २२०

नहीं है, वरन् मन से लेकर विश्व तक प्रसारित होता है। चेतनाशक्ति श्रद्धा ही मनु के मन में समन्वय स्थापित कर उन्हें समरसता की ओर अग्रसर करती है, आनन्द देती है। यह आनन्द सीमित नहीं है, वरन् असीम और अनन्त है। इस आनन्द में सभी जड़-चेतन निमग्न हैं। यह वह शिवत्व की अवस्था है जिसे समरसता द्वारा इसी जगत् में प्राप्त किया जा सकता है।



द्वितीय भाग [ख]



आधुनिक गद्य साहित्य के नारीपात्र

आकाशदीप की नायिका

चम्पा



'अपनी महिमा में अलौकिक एक तरुण बालिका
जिसके धवल अपांग में बालकों के सदृश विश्वास था।'



तेरह

मैं चम्पा हूँ जिसे सब क्षमा, करुणा, ममता और गौरव से पूर्ण, महिमामयी, कर्त्तव्य की वेदी पर प्रेम का बलिदान कर देने वाली, चम्पा द्वीप के निरीह भोले प्राणियों के दुख में सहानुभूति से सेवा करने वाली देवी समझते हैं—वही चम्पा; लेकिन प्रसाद ने मुझे आदर्श का आवरण पहनाकर अन्याय किया है। मेरे यौवन को निष्फल और जीवन को करुण एवं एकाकी बना दिया है। क्या मेरे लिए भयंकर अनन्तता में निस्सहाय और एकाकी रहने की ही नियति शेष थी। मुझे नहीं चाहिए था, यह देवीपन; जिसके कारण मुझे जीवन भर जलना पड़ा, ठीक वैसे जैसे आकाशदीप! जी चाहता है कल्पना के कुहुक पट को फाड़ कर अपने सच्चे आत्मरूप को प्रस्तुत करूँ।

मेरा व्यक्तित्व चम्पे की तरह अपनी महक से स्वयं महमहा रहा है, एकाकी और उदास; मेरा इतना ही परिचय नहीं। मेरी व्यथा अथाह है। प्रसाद ने मुझे केवल इतना ही करने दिया कि बुद्धगुप्त के पोतों को

चम्पा द्वीप के उपकूल छोड़ते देख मेरी आँखों में आँसू बहने लगे और आजीवन उस दीप-स्तम्भ में आलोक जलाते रहने के लिए मुझे संयत करा दिया– दीप जो मेरे लिए पिता की समाधि को जल में खोज लेने का साधन था और बुद्धगुप्त के लिए जीवन की पुण्यतम घड़ी की स्मृति का प्रकाश-गृह ! मैं स्वयं ही नहीं समझ पाई कि मैं उसे पिता के लिए जला रही हूँ या प्रेम-स्मृति के लिए। आप सोच रहे होंगे कि चम्पा बुद्धगुप्त के लिए क्यों जलती रही, क्यों रोई ? बड़ी व्यथापूर्ण कहानी है, पर आत्मव्यथा कहीं कही जाती है ? लेकिन आज सब कुछ कहना होगा। बिना कहे निस्तार कहाँ ? कहते हैं दूसरों से कह देने से मन का बोझ हलका हो जाता है।

कर्त्तव्य और मर्यादा के नाम पर लाख-लाख त्यागमयी भारतीय नारियों की तरह मैंने भी अपने आँसू पिये हैं। यह बात नहीं कि मुझे किसी ने बाहर से बाध्य किया था। वह तो मेरे अपने मन की भावनाओं की, भ्रमों की और संस्कारों की जकड़न थी जिससे मैं चाह कर भी छूट नहीं पाई – जिस बुद्धगुप्त ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से मुझे प्रसन्न करने की चेष्टा की, जिसके समस्त कार्य मुझे समर्पित थे, उस बुद्धगुप्त को मैं क्षमा न कर सकी, घृणा और द्वेष ने उसके उज्ज्वल प्रेम को मुझे समझने नहीं दिया। इसीलिए मैं अपने आवर्त में घिरी अकेली रह गई इस चम्पा द्वीप में, जन्मभूमि से बहुत दूर द्वीप-वासियों से घिरी हुई भी निरीह उदास और अकेली। अन्यथा मेरा जन्म तो जाह्नवी-तट पर चम्पा नगरी के एक साधारण क्षत्रिय प्रहरी के घर में हुआ था। माँ के देहावसान से, मातृस्नेह से वंचित मैं पिता के साथ नाव पर ही रहने लगी। आठ वर्ष तक पिता के साथ नाव पर रहती हुई समुद्र को ही अपना घर समझती रही। लेकिन दुर्भाग्य ने यहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा। मणिभद्र के पोत पर एक दिन जलदस्युओं का आक्रमण हुआ। आक्रमण के समय पिता ने सात दस्युओं को मार कर जल-समाधि ली और फिर नील नभ के नीचे नील जलनिधि के ऊपर मैं निस्सहाय और अनाथ

रह गई। तभी एक दिन मणिभद्र की कामुक दृष्टि मुझ पर, मेरे पूर्ण यौवन-प्राप्त सौन्दर्य पर पड़ी। वीर पिता की वीर पुत्री मैं अपने को सामान्यता में असामान्य अनुभव करने वाली, आचार-विचार और संस्कृति की महिमा में अपने को अधीश्वरी समझने वाली मैं कोई साधारण लड़की थी जो परिस्थिति की असहायता में दुर्बल कामुक मणिभद्र की बात मान लेती, मैंने तो उसे गालियाँ सुनाईं। बस बंदिनी बना दी गई। पोत से संलग्न इस नाव में और भी बंदी थे, उनमें ही था एक दीर्घकाय दृढ़ पुरुष – वह था बुद्धगुप्त। एक दिन जब आँधी की संभावना थी, मेरे बंधन शिथिल थे, मैंने पहले स्वयं को और फिर दूसरे बंदी को स्वतन्त्र किया। इस बंदी बुद्धगुप्त को मणिभद्र के नायक ने पुनः बंदी बनाना चाहा लेकिन बुद्धगुप्त का पौरुष अपराजेय था उसने द्वन्द्व-युद्ध में नायक को लाचार कर दिया और मुझे भय, विस्मय और आतंक से आत्मविभोर। मेरे मन में उसके लिए तब तक जो केवल मानवीय संवेदना का बीज भाव था वह प्रणय मैत्री के अंकुर के रूप में फूटने लगा। मैंने उसके घावों को अपनी स्निग्ध दृष्टि से, कोमल करों से वेदना-विहीन किया। बाली द्वीप से बहुत दूर नवीन द्वीप के पास पहुँचते-पहुँचते मेरे कोमल सम्पर्क का प्रभाव हत्या व्यवसायी उस जलदस्यु में भी कोमलता जगा चुका था और इसीलिए जब हम नवीन द्वीप के पास पहुँचे तो उसने कहा, 'जब इस द्वीप का कोई नाम नहीं है तो हम लोग इसे चम्पाद्वीप कहेंगे।'[1] प्रणय आनन्द से मेरा मन उत्फुल्ल हो उठा। पहली बार उसी दिन उदासी के वातावरण से निकल कर उन्मुक्त मन से मैं हँसी लेकिन मुझे क्या मालूम था कि यह मेरे अनन्त दुःख की पूर्व-पीठिका का उद्घोष है। मैं इस 'चम्पा द्वीप' के उपकूल पर अभ्रक की मंजूषा में प्रतिदिन आकाशदीप जलाती रही जिससे मेरा नाविक भटक न जाये। ठीक अपनी माँ की तरह, जो पिता के नौकरी के लिए समुद्र में जाने पर मिट्टी का दीपक बाँस की पिटारी में जलाकर

[1] जयशंकर प्रसाद, आकाशदीप, पृष्ठ १३

भागीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचा टाँग देती और प्रार्थना करती थी । 'भगवान्! मेरे पथ-भ्रष्ट नाविक को अंधकार में ठीक पथ पर ले चलना।'[1] लेकिन बुद्धगुप्त अनन्त ऐश्वर्य पाकर ईश्वर की कृपा को भूल गया, उन भावभीने दिनों को भी भूल गया, जब वह दरिद्र था। वह और मैं मिलकर परिश्रम कर पालों में ही शरीर लपेट कर सो जाते थे। एक दिन वह मेरे आकाशदीप पर व्यंग्य करने लगा और तभी मुझे लगा, जिसे मैं महान् समझ बैठी हूँ वह दस्युवृत्ति छोड़ने पर भी वैसा ही अकरुण सतृष्ण और ज्वलनशील है। भगवान् के नाम पर हँसी करता है, नास्तिक है।[2] और मन का भ्रम वाणी पर आ गया। मैंने उससे कहा मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण जलदस्यु! हट जाओ। लेकिन बुद्धगुप्त ने न तो पिता को मारा था और न अब उसमें कठोरता शेष थी इसीलिए उसने मेरे इतने क्रोध के बाद भी इतना ही कहा, यह क्या चम्पा! तुम अस्वस्थ हो जाओगी, सो रहो। यह अपार संयम और सहिष्णुता उसके प्रणय और कोमलता का परिणाम थी। उसके इस प्रकार के उद्‌गार मेरे क्रोध का शमन अवश्य करते रहे लेकिन घृणा मेरे मन से कभी न निकली। ऐसी द्विविधाजनक मनःस्थिति में मेरा मन स्वयं मेरे लिए अनबूझ पहेली बन गया। मेरे कोमल मन को दो-दो दुर्दाम भावनाओं का संघर्ष झंझोड़ता रहा। कभी शीतलता तो कभी आग। इस हाहाकार में मैं क्रुद्ध निश्चय ही

---

[1] जयशंकर प्रसाद, आकाशदीप, पृष्ठ १५/१६

[2] जयशंकर प्रसाद, आकाशदीप, पृष्ठ १४/१५
'बावली हो क्या? यहाँ बैठी हुई अभी तक दीप जला रही हो, तुम्हें यह काम करना है?'
क्षीरनिधिशायी अनन्त की प्रसन्नता के लिये क्या दासियों से आकाशदीप जलवाऊँ?
हँसी आती है। तुम किसको दीप जलाकर पथ दिखलाना चाहती हो? उसको, जिसको तुमने भगवान् मान लिया है?

नहीं कर पाती और मेरा मन सदा पूछता रहता है कि मुझे क्या करना चाहिए ? कभी घृणा विजयी होती तो मुझे लगता मैं ऐश्वर्य की प्राचीरों में बंदिनी हूँ । किनारे से चोट खाते हुए समुद्र अपने समाने देखती तो लगता कि मैं हाहाकार करूँ और जब प्रेम विजयी होता तो मन करता कि जैसे सूर्य का गोलक समुद्र में डूब कर बुझ जाता है तो मैं भी प्रेम के समुद्र में डूबकर-- जलन को शान्त कर दूँ । और ऐसे ही कोमल क्षणों में महानाविक के आत्मसमर्पण करने पर नीले पीले आलोकमय जल प्रदेश और प्रणय की शीतल छाया वहन करती हुई प्रकृति की गोद में सौरभ से पागल हो मैंने बुद्धगुप्त पर अपना प्रेम प्रकट कर दिया । बुद्धगुप्त आज मैं अपना प्रतिशोध का कृपाण अतल जल में डुबा देती हूँ । लेकिन कृपाण डुबा कर भी घृणा न बुझ पाई । मुझे लगा मैं पिता की मृत्यु का बदला न ले पाई । बुद्धगुप्त के प्रति प्रेम-विमोहित हो मेरे मन ने मुझे धोखा दिया है और उसी क्षण बुद्धगुप्त के पूछने पर कि 'तो आज से मैं विश्वास करूं कि मैं क्षमा कर दिया गया ?' मेरा मन पुनः द्विविधात्मक स्थिति में आ चुका था, प्रेम के वे मधुर क्षण प्रभाव खो चुके थे । मैंने कहा विश्वास ? कदापि नहीं, बुद्धगुप्त ! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब कैसे कहूँ मैं तुमसे घृणा करती हूँ ! फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ । अंधेर है जलदस्यु ! तुम्हें मैं प्यार करती हूँ ।[1] काश कि वे क्षण स्थायी हो जाते । बुद्धगुप्त ने प्रेम के इन्हीं क्षणों की स्मृति में प्रकाशगृह बनवाया । उसे आशा थी कि उसके जीवन की धुंधली संध्या आलोकपूर्ण हो जायेगी । लेकिन न मैं बुद्धगुप्त का जीवन आलोकित कर सकी और न अपना ही । बुद्धगुप्त के इस प्रकाशगृह ने मुझे आनन्द से भर दिया लेकिन जब बुद्धगुप्त ने इस प्रकाशगृह के आलोक की छाया में मुझसे अपनी रानी बनने का प्रस्ताव किया तो घृणा ने फिर उभर कर प्रेम के स्वरूप को आवृत्त कर दिया और मैं बुद्धगुप्त का प्रस्ताव स्वीकार नहीं

[1] जयशंकर प्रसाद, आकाशदीप, पृष्ठ १८

कर सकी और कहा 'चुप रहो महानाविक ! क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल जानकर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा ?'

'मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ चम्पा ! वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र से मरे।' 'यदि मैं इसका विश्वास कर सकती । बुद्धगुप्त, वह दिन कितना सुन्दर होता, वह क्षण कितना स्पृहणीय !'[1] काश ! मैं मान सकती कि वह मेरे पिता का घातक नहीं है। वह निष्ठुरता में भी मुझे महान् लगता । प्रेम के कोमल स्पर्श से चन्द्रकान्त मणि के समान द्रवित हो जाने वाला दृढ़ बुद्धगुप्त मेरा मन नहीं बदल सका। प्रेम की चरम परिणति का हमारा मिलन अधूरा रह गया।[2] बुद्धगुप्त की रानी बन कर भारत जाने के प्रस्ताव को मैंने अस्वीकृत कर दिया। मेरी किसी विशेष देश में रुचि नहीं रह गई थी। मेरे लिए सब भूमि मिट्टी और सब जल तरल हो गया था। प्रेम और घृणा के द्वन्द्व का शमन न कर पाने पर मेरे लिए तटस्थता, वैराग्य और आत्मोत्सर्ग का ही एकमात्र पथ बचा था। प्रसाद ने मुझे वही सुझाया, सामान्य होते हुए भी मुझे असामान्य बनाने की चेष्टा की। मैं बुद्धगुप्त के प्रति कृतज्ञ और प्रेम-विभोर होकर भी अपना स्वाभिमान अपना अस्तित्व अलग रखती रही ! पर बुद्धगुप्त के साथ मैंने अपने समस्त प्रयासों से अनजान अगम्य द्वीप को सभ्य बनाया। बुद्धगुप्त ही नहीं समस्त द्वीपवासी मेरे प्रेम की डोर में बंधे हैं। रानी मानते हैं–चम्पा रानी

---

[1] जयशंकर प्रसाद, आकाशदीप, पृष्ठ १६

[2] जयशंकर प्रसाद, आकाशदीप, पृष्ठ २०
'चलोगी चम्पा ? पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लाद कर राजरानी-सी जन्मभूमि के अंक में ? आज हमारा परिणय हो, कल ही हम लोग भारत के लिये प्रस्थान करें'''आह चम्पा ! चलो ! चम्पा ने उसके हाथ पकड़ लिये । किसी आकस्मिक झटके ने एक पल भर के लिए दोनों के अधरों को मिला दिया।'

कहते हैं, लेकिन भौतिक जीवन की समृद्धि क्या मेरे मन को तुष्ट कर पाई ? मैं अपने आप में कितनी विवश और निस्सहाय और अकेली हूं अपने इस अविश्वासी मन के कारण। प्रसाद ने गौरव गरिमा और न जाने क्या-क्या मुझे दिया, क्या वे थोड़ा विश्वास और क्षमा नहीं दे सकते थे ? इसी के अभाव में प्रिय बुद्धगुप्त अकेला स्वदेश लौट गया यहाँ यह दीपस्तम्भ है और मैं ! देखती हूँ कि अब मुझे भी जलना होगा प्रिय स्मृति के लिए प्रेम के उन अनन्त क्षणों की याद के लिए।

त्यागपत्र की

मृणाल



'उसका जीवन ऊपर उठती लौ की भाँति जलता रहा।
धुआँ उठा तो उठा, पर लौ प्रकाशित रही।'



चौदह

कथाकार जैनेन्द्र ने प्रथम वार व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से समाज का अध्ययन किया है । इनका यह व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अधिकांशतः नारीपात्रों के माध्यम से व्यक्त हुआ है । उनके त्यागपत्र की बुआ इसी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की प्रतीक है । वह अन्तर्मुखी, अन्तर्द्वन्द्व के घात-प्रतिघात से अनुप्राणित और रहस्यमयी है । वह करुणा की लय में वँधी अपने ही व्यक्तित्व की टीस में टीसती हुई अनचाहे अभिशाप से आवेष्टित जीवन प्रवाह की सरिता के भँवरजाल में पड़ी तड़फ रही है । जैनेन्द्र ने मृणाल का चरित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि उसे घोर पतन के गर्त में गिरते हुए देख कर भी हमें उससे तथा उसकी विवशत से सहानुभूति होती है और हम उसके स्वस्थ चरित्र-निर्माण में बा डालने वाली सामाजिक परिस्थितियों से घृणा करने लगते हैं । सदा स्वभाव की हँसमुख और निर्द्वन्द्व मृणाल ने समाज की कु विषमता के प्रति विद्रोह करते हुए भी उसका ध्वंस न चाह कर आ पीड़न सहा है । तभी वह कहती है कि —

'मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटी कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे? या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे? इसलिए मैं······समाज से अलग होकर उसकी मंगलकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ।'[1]

इसीलिए समाज से प्रताड़ित होकर भी समाज की गतिविधि में भ्रान्ति उत्पन्न न कर वह जीवन भर स्वयं टूटती और बिगड़ती रही।

पतन की यह प्रवृत्ति मृणाल के संस्कारों में थी ऐसा हम कदापि नहीं कह सकते। जीवन के प्रभात में मृणाल रूप, रंग, कोमलता, सहृदयता, स्नेह, त्याग इत्यादि नारी-सुलभ सभी श्रेष्ठतम विभूतियों से मण्डित है जो किसी भी श्रेष्ठ कुल की नारी का शृंगार कही जा सकती हैं। लेकिन अंत तक समाज की प्रचण्ड परिस्थितियों ने उन्हें एक-एक करके दग्ध कर डाला है।

मातृ-पितृ-हीन बालिका (बुआ) को घर में भाई का अपार स्नेह और भाभी का अनुशासनपूर्ण संरक्षण प्राप्त है। भतीजा प्रमोद जो उससे कुछ ही वर्ष छोटा है, उस पर निछावर है। 'परियों' सी सुन्दर मृणाल स्कूल में भी आकर्षण का केन्द्र है और सभी की स्नेहपात्री है। यहीं स्कूल की शैतान लड़की शीला से उसकी मित्रता होती है। शैतानी करती है शीला और मार खाती है मृणाल। उसके इस साहसपूर्ण, त्यागमय रूप को देखकर शीला अभिभूत होती है और उसकी सखी बन जाती है। क्रमशः परिचय और स्नेह बढ़ जाता है।

इधर घर में मृणाल की भाभी को चिन्ता है कि भाई का अत्यधिक प्रेम मृणाल को बिगाड़ न दे और परम्परागत आदर्श नारी के गुणों का उसमें अभाव न रहे। इस चेष्टा में उस पर आवश्यकता से अधिक अंकुश रखती है। फलस्वरूप मृणाल उससे सकुचाई और डरी हुई रहती है। उसकी स्वस्थ प्रवृत्तियों का विकास रुक जाता है। वह मन ही मन घुटती रहती है। अन्ततः स्नेह की अतृप्ति और घुटन उसे शीला के भाई के प्रति आकर्षित करती है। वह प्रेम से पूर्ण अपने ही में

[1] जैनेन्द्रकुमार, त्याग-पत्र, पृष्ठ १२

लगती है।' 'उस समय उनके मन में ठहरता कुछ नहीं था। न विचार, न अविचार। जैसे भीतर बस हवा हो, और मन हल्का-फुल्का बस उड़ उड़ आना चाहता हो।'[1] क्रमश: जब प्रेम का यह रहस्य खुलता है तो उसे पुरस्कार स्वरूप मिलती है मार; तथा सामाजिक व्यवस्था और परंपराओं के अनुसार उसका विवाह शीला के भाई से न होकर एक अशिक्षित, पर सम्पन्न और प्रौढ़ व्यक्ति से कर दिया जाता है। यहाँ उसे स्नेह के स्थान पर ताड़ना और आदर के स्थान पर उपेक्षा और अनादर मिलता है। यहाँ तक कि बेंत की मार मिलती है। इस अपरिमित अनाचार और अत्याचार के सहने के पश्चात् भी मृणाल (बुआ) ने समाज से समझौता कर संस्कृति में श्रद्धा करनी चाही है और इसलिये मन में व्यथा का भार लिये भी वह प्रमोद के यह कहने पर कि 'कौन फूफा हैं जो ले जाते हैं ?' उत्तर देती है 'कन्या-जाति क्या अपने पिता के घर की होती है ? मैं कोई निराली जनमी हूँ ?' और पतिगृह चली जाती है। वहाँ पर सम्पूर्ण रूप से वह पति पर श्रद्धा रखती है फिर भी पति उसे दुराचारिणी समझता है। पति को उसने नहीं छोड़ा, पति ने उसे छोड़ा। वह अपने भतीजे प्रमोद से एक स्थान पर कहती है कि 'मैं स्त्री-धर्म को पतिव्रत-धर्म ही मानती हूँ। उसका स्वतन्त्र धर्म मैं नहीं मानती। क्या पतिव्रता को यह चाहिये कि पति उसे नहीं चाहता तब भी वह अपना भार उस पर डाले रहे ?'[2] उसके पति ने जब यह कह दिया कि मैं तेरा पति नहीं हूँ तब वह किस अधिकार से वहाँ रहती ? यह सब हुआ छोटी सी बात को लेकर। शीला के भाई का एक सामान्य सा शुभकामनाओं का पत्र आया जिसे मृणाल ने पति को बता देना अपना धर्म समझा और इस सचाई के बदले मिला उसे अविश्वास। एक दिन वह असहाय अवस्था में रहने के लिये घर से निकाल दी गई। भाई के घर भी नहीं गई क्योंकि वहाँ से नहीं चाहने पर भी उसे पतिगृह

---

[1] जैनेन्द्रकुमार, त्याग-पत्र, पृष्ठ ७
[2] जैनेन्द्रकुमार, त्याग-पत्र, पृष्ठ ५३

भेज दिया गया था। परित्यक्ता मृणाल एक कोठरी में पड़ी रही यहाँ तक कि उसकी मरणासन्न अवस्था आ जाती है फिर भी वह आत्महत्या नहीं करती। ऐसे दुःखद समय में सहारा उठा कर एक कोयले वाले ने उसे पूछा। मृणाल को अपने इस उपकारी पर करुणा हो आई। वह प्रमोद से कहती भी है कि 'मैं उसके इस भ्रम को किसी भाँति न तोड़ सकी कि मैं उसकी हूँ, उस पर मुग्ध हूँ। ऐसा करना निर्दयता होती। मेरे पास जो कुछ बचा हुआ था, मैंने उसे सौंप दिया।'[1]

इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि मृणाल (बुआ) उस कोयले वाले की तरफ प्रवृत्त नहीं थी। उसने अपने उपकारी के प्रति निस्सीम करुणा तथा सुख के लिये इच्छा का दमन और आत्मपीड़न स्वीकार कर लिया। असहाय पति-परित्यक्ता के लिये कहीं और स्थान नहीं था। भाई के घर के द्वार पहले ही बंद हो चुके थे। पति परित्यक्ता को समाज भी जगह न देता। एक असहाय दुखिया नारी, जो सब तरफ से ठुकरा दी गई, वह कहाँ जाती? ऐसी परिस्थिति में कोयले वाले को स्वीकार नहीं करना चाहते हुए भी विवशतावश उसने स्वीकार कर लिया।

क्रमशः वह नैतिक दृष्टि से पतन की ओर बढ़ती गई। समाज में ऊँचा उठने की इच्छा रखते हुए भी वह उठ नहीं सकी और एक दिन वह कोयले वाला भी मारपीट कर उसे धोखा देकर चला गया। इसके बाद भी समाज में उसे सब स्वार्थी ही मिले। नर्स बनकर जीवन बिताना चाहा तो ईसाई बनने के लिये दबाव उस पर डाला गया। वहाँ से भी जाना पड़ा। फिर मृणाल (बुआ) ने सम्मान और स्वावलंबन का मार्ग ग्रहण किया। एक डाक्टर के परिवार के बच्चों को पढ़ाने का कार्य अपनाया और उससे मिलने वाले द्रव्य से जीविका चलाने लगी। तभी संयोगवश उस परिवार में उसके भतीजे प्रमोद के विवाह संबंध की बात चली। वह वहाँ आया और बुआ के मना करने पर भी उसने यह रहस्य प्रकट कर दिया कि उसके ससुराल में बच्चों को पढ़ाने वाली उसकी बुआ है।

[1] जैनेन्द्रकुमार, त्याग-पत्र, पृष्ठ ५७

मृणाल ने बहुत मना किया, कहा 'वता, मैं आज तेरी कोई क्या हूँ कभी यह सत्य था कि मैं तेरी बुआ थी' पर उस वात को मैंने अप हाथों से अच्छी तरह तोड़-ताड़कर धूल में पटक दिया है। धूल में से उठ कर उसी के निर्जीव छूछे पिंजर को तू हठपूर्वक सामने लाकर सत्य कहन चाहता है, यही झूठ है।'[1] लेकिन भतीजा नहीं माना और उसने य रहस्य प्रकट कर ही दिया कि डाक्टर साहब के यहाँ बच्चों को पढ़ा वाली उसकी बुआ है। परिणामस्वरूप उसका विवाह संबंध तो छूट ह गया मृणाल (बुआ) की नौकरी भी छूट गई। इसके पश्चात् वह पूर्व वत् विवशतापूर्ण घृणित और अनिर्दिष्ट मार्ग पर चलने लगती है औ आत्मपीड़ा सहती हुई अंत में अत्यन्त दुःखपूर्ण परिस्थितियों में पड़क बीमार हो जाती है। इसी अवस्था में अपने भतीजे प्रमोद को अपन स्थिति की सूचना देती है साथ ही यह भी संकेत कर करती है कि 'तुम आओगे तो आ जाना लेकिन मुझसे किसी बात की उम्मी न करना।' परिस्थितियों की विषमता तथा भाग्य की विपरीतता वह यह विश्वास करने लगी है कि उच्च समाज में रूढ़ियों के साम सद्भावनाओं का कोई मूल्य नहीं है इसलिए वह प्रमोद से कहती है "... मैंने सीखा है कि इन दुर्जन लोगों की सद्भावना के सिवा मेर कुछ और पूंजी नहीं हो सकती।........ मुझको ऐसा अनुभव हो रहा कि इन लोगों में जिन्हें दुर्जन कहा जाता है, कई तह पार कर वह भ तह रहती है कि उसको छू सको तो दूध-सी श्वेत सद्भावना का सोत ही फूट निकलता है।" [2]

निराशा के सागर में थपेड़े खाते अपने अनुभवों के फलस्वरूप उ अनुभूति होती है कि सभी के अभ्यन्तर में परमात्मा है। इसलिए व कहती है कि 'वह परमात्मा है, वह सर्वअन्तर्यामी है, सर्वव्यापी है। इसी से मैं अभी यहाँ से टूटकर उखड़ना नहीं चाहती। क्यों चाहूँ ? कह

---

[1] जैनेन्द्रकुमार, त्याग-पत्र, पृष्ठ ७३

[2] जैनेन्द्रकुमार, त्याग-पत्र, पृष्ठ ७६

सब कुछ नहीं है ?"[1] वह प्रमोद के आग्रह करने पर भी अब इस समाज से वापस जाना नहीं चाहती —

"मेरा डूबना-मरना भी इतना आसान नहीं है, भाई। अभी जाने कितने थपेड़े और खाने हैं। लेकिन तुम उन थपेड़ों से दूर हो, यही प्रसन्नता है। मैं तुम्हें प्रेम करती हूँ, इसी से कहती हूँ......"[2]

उसी गिरे हुए समाज में रहने का विचार इसलिए है कि वहाँ "छल असम्भव है, जो छल कि सभ्य समाज में जरूरी ही है। यहाँ तहज़ीब की माँग नहीं है, सभ्यता की आशा नहीं है......इसलिए सच्चरित्र दीखनेवाला यहाँ नहीं टिक सकता। उसे मज्जा मज्जा तक सच्चा होना होगा, तभी खैरियत है। जो बाहर हो, वही भीतर हो। भीतर पशु हो तो इस जलवायु में आकर बाहर की मनुष्यता एक क्षण नहीं ठहरेगी। मनुष्य हो, तो भीतर तक मनुष्य होना होगा। कलईवाला सदाचार यहाँ खुलकर उघड़ कर रहता है। यहाँ खरा कंचन टिक सकता है......भीतर पीतल रखकर ऊपर कंचन दीखने का लोभ यहाँ छन-भर नहीं टिकता है।"[3]

वह अच्छी तरह जानती थी कि जिस गर्त में वह गिर गई है वह ठीक नहीं। वहाँ कोमलता और उच्चता नहीं है। गंदगी और जड़ता है लेकिन समाज ने वहाँ से निकलने भी तो नहीं दिया। प्रमोद के अतिरिक्त कोई ऐसा नहीं मिला जो उसे सहानुभूति देता। इसीलिए प्रमोद से वह कहती है "तुम न आओ तो ही भला है। तुम्हारा प्रेम खोना मुझे असह्य होगा" पर तुम्हारे अकेले के कारण मैं उस तमाम भद्र-वर्ग को अप्रेम करने से बची हुई हूँ"...."तुम्हारा प्रेम मुझे स्वच्छ रखता है। पर डर है कि तुम यहाँ आओ और कहीं बचा-खुचा तुम्हारा प्रेम भी मेरे हाथों से जाता रहे!"[4] प्रमोद के प्रेम-सूत्र के सहारे विषाक्त वातावरण में रह

---

[1] जैनेन्द्रकुमार, त्याग-पत्र, पृष्ठ ७६
[2] जैनेन्द्रकुमार, त्याग-पत्र, पृष्ठ ७८
[3] जैनेन्द्रकुमार, त्याग-पत्र, पृष्ठ ८०
[4] जैनेन्द्रकुमार, त्याग-पत्र, पृष्ठ ८१

सी जगह भी रहती जो देखने योग्य भी नहीं है। पर वह मानती है क मनुष्य की सच्ची परख पतितों और दुखियों के साथ संवेदना रखने र ही होती है। वही प्रभु का प्यारा हो सकता है। इतनी प्रतारणा हने पर भी वह समाज से घृणा नहीं कर सकी क्योंकि उसमें प्रमोद से संवेदनशील मानव भी निवास करते हैं। वह सद्भावना और प्रेम ो जीवन-भर श्रेष्ठ समझती रही। अन्त में भी जब प्रमोद ने घर ले ाकर इलाज कराने का आग्रह किया तो मृणाल ने कहा कि "युधिष्ठिरजी वर्ग गये थे तो कुत्ते को नहीं छोड़ गये थे।......इन सबको ले चलेगा, न सबका मुझ पर बड़ा उपकार है।" तभी उद्धार करने को आतुर तीजे से कहती है कि "यह बता तेरे पास बहुत रुपया है?........जितना सके, मुझे दे जा।"[1] वह रुपये के ज़ोर से उस नरककुण्ड को स्वर्ग नाना चाहती है। अपने जैसी असहाय और निष्कासित नारियों का उद्धार रना चाहती है लेकिन प्रमोद से उसे आवश्यक द्रव्य नहीं मिलता, ह नाराज़ होकर चला जाता है। उसका स्नेहपात्र उसकी अन्तिम इच्छा ो पूरी नहीं करता है। चले जाने के बाद वर्षों तक उसकी खबर नहीं ता। इधर मृणाल बिना किसी प्रतिकार और प्रतिशोध के ७ वर्ष क समाज की क्रूरताओं और यातनाओं को सहती हुई रूढ़ियों की लिवेदी पर चढ़ चिर-निद्रा में सो जाती है।

प्रमोद के शब्दों में उसका जीवन 'ऊपर उठती लौ की भाँति लता रहा। धुआँ उठा तो उठा, पर लौ प्रकाशित रही।'

इस प्रकार त्याग-पत्र की मृणाल उन लाख-लाख स्नेहमयी, आत्म मर्पणमयी, त्यागमयी, संवेदनशील, साहसी और सहनशील नारियों का तीक है जो समाज की क्रूरताओं का शिकार होकर स्वस्थ विकास हीं कर पातीं और ऊपर उठना चाहकर भी उठ नहीं पातीं।



[1] जैनेन्द्रकुमार, त्यागपत्र, पृष्ठ ८४

क्रान्तिकारिणी

धनिया



'विपन्नता के इस अथाह सागर मे सोहाग ही वह तृण
जिसे पकड़े हुये वह सागर को पार कर [illegible]



पन्द्रह

प्रकृति ने नारी को पुरुष के पूरक रूप में बनाया है। यह उक्ति 'गोदान' की धनिया पर पूर्णतः लागू होती है। इतिहास साक्षी है कि नारी ने सामाजिक स्थिति के अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं, लेकिन उसका पत्नी-रूप अपरिवर्तनीय और अक्षुण्ण रहा है। सती-साध्वी की रूप महिमा सदा गायी जाती रही है। धनिया में यह सती-साध्वी नारी का रूप अपनी पूर्ण महत्ता के साथ प्रकट हुआ है। वह 'सात पद' ही नहीं वरन् जीवन भर पति के कंधे से कंधा भिड़ा कर सामाजिक संघर्ष में अग्रसर हुई है। वह स्वयं सत्य की मर्यादा और मानवीयता की प्रतिष्ठा के लिये, वर्ग-भेद को मिटाने के लिये सचेष्ट रही है और साथ ही होरी को भी उस ओर अग्रसर करने की चेष्टा करती रही है। इसके लिए वह होरी से लड़ने और विद्रोह करने में भी नहीं चूकती। यदि हम यह कहें कि उसने सदियों से शोषित ग्रामीण समाज की घुटन और मूक व्यथा को वाणी दी है तो अत्युक्ति न होगी।

प्रेमचन्द ने ग्राम-जीवन की कृषि-संस्कृति के महाकाव्य 'गोदान' के विशाल समाज का नेतृत्व भले ही होरी को दिया हो पर समाज को नव-नव दिशाओं की ओर अग्रसर करने और क्रांति की प्रचण्ड शक्ति जाग्रत करने का श्रेय धनिया को प्रदान किया है। होरी यदि आत्म-विश्वास के साथ जीवन-संघर्ष में दृढ़ता से डटा रहा तो वह धनिया के बल पर। दातादीन, पटेश्वरी, झिंगुरी सिंह, नोखेराम, भोला और दारोगा, कोई भी हो, क्या मजाल कि दबंग, पर न्यायप्रिय धनिया के सामने टिक जाये। कारण स्पष्ट है – धनिया ने समाज को जर्जर बनाने वाली और मानवता को खंड-खंड करने वाली कुरीतियों, रूढ़ियों, असत्य धारणाओं और अत्याचारों से जमकर मोर्चा लिया है। वह अपने पति होरी के समान समाज-भीरु और धर्म-भीरु नहीं है। वह अन्याय की आशंका मात्र से ही कमर कस कर उसका विरोध करने के लिये तत्पर हो जाती है। इस संसार में सत्यप्रिय, न्यायप्रिय, स्पष्टवादी व्यक्ति को आगे बढ़ने के लिये संघर्ष करना ही पड़ता है। तेजोदीप्त धनिया भी मानवता की विजय के लिये सम्पूर्ण सचेतना के साथ अन्याय से लोहा लेती रही।

प्रेमचन्दजी ने व्यर्थ ही धनिया पर व्यवहार-कुशल न होने का आरोप लगाया है।[1] धनिया स्पष्टवादिनी थी और स्पष्टवादिता और व्यवहारकुशलता दो विरोधी विशेषताएँ हैं। यदि धनिया व्यवहारकुशल बनने की चेष्टा करती तो उसके हाथ से सत्य और न्याय का पलड़ा छूट जाता। इसलिये व्यवहारकुशलता में तत्पर होरी को स्पष्टवादी न होने के कारण वह बार-बार रोकती, टोकती और धिक्कारती है। वह होरी की तरह उनके तलुवे सहलाने में भी विश्वास नहीं करती, जिनके पाँव तले उसकी गर्दन दबी हुई है।[2] उपन्यास के प्रारम्भ में ही जब ज़मींदार

---

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ५

[2] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ५

के यहाँ होरी खुशामद में हाज़री देने जाना चाहता है तो वह उससे जलपान करने का आग्रह करती है और कहती है —

'आज न जाओगे, तो कौन हरज होगा। अभी तो परसों गये थे।'[१] और होरी जब इस पर खीझता है तो वह कहती है कि 'हमने ज़मींदार के खेत जोते हैं, तो वह अपना लगान ही तो लेगा। उसकी खुशामद क्यों करें, उसके तलवे क्यों सहलायें।' यद्यपि विवाहित जीवन के बीस वर्षों ने उसे अच्छी तरह अनुभव करा दिया है कि —

'चाहे कितनी ही कतर-ब्योंत करो, कितना ही पेट-तन काटो, चाहे एक-एक कौड़ी को दाँत से पकड़ो; मगर लगान बेबाक़ होना मुश्किल है। फिर भी वह हार नहीं मानती......।'[२]

माने भी क्यों? वह अच्छी तरह समझती है कि ज़मींदार उनका शोषण कर रहा है। वह और उसका पति मेहनत करते हैं, धन जाता है ज़मींदार के पास। उसके तीन बच्चे दवा-दारू के अभाव में तड़पते हुए मर गये। क्या माँ का हृदय यह चोट भूल सकता है? ऐसे ही आघातों ने उसे असमय में ही प्रौढ़त्व की ओर अग्रसर कर दिया है।

'उसकी ही उम्र अभी क्या थी? छत्तीसवाँ ही साल तो था; पर सारे बाल पक गये थे, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं। सारी देह ढल गई थी, वह सुन्दर गेहुआँरङ्ग सँवला गया था और आँखों से भी कम सूझने लगा था।'[३] इसलिये दरिद्रता, अभाव और अत्याचार को बढ़ावा देने वाली परिस्थितियों के प्रति वह असहिष्णु हो उठी है। उसका मन बार-बार विद्रोह करता है। उसे पूर्ण विश्वास है कि होरी की तरह सहिष्णु बनकर असत्य और अनाचार से कभी नहीं लड़ा जा सकता, दरिद्र कृषक-समाज की समस्याएँ कभी हल नहीं की जा सकतीं।

---

[१] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ५

[२] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ५

[३] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ५

वह अन्याय के प्रति वज्र-सी कठोर और अत्याचार से पिसे दीन-दुखियों के प्रति कुसुम सी कोमल है। प्रेमचन्द्र ने लिखा कि वह लड़ाकू है और आलोचकों ने भी उसे ज्यों का त्यों मान लिया। लेकिन क्या लड़े बिना बुराइयों को काटा जा सकता है ? वह लड़ती है तो अन्याय के विरुद्ध; झुकती है तो प्यार के लिए।

कृषक-समाज में जब-जब दुखियों को सहारा देने का अवसर आया है धनिया की उदारता, करुणा और दया सजग हो उठी है। यही कारण है कि जिस क्षमता से वह होरी को समय-समय पर धैर्य बँधाते हुए सँभालती है, कठिनाइयों का सामना करती है और अन्यायियों से लड़ती है, उसी क्षमता के साथ मातृत्व का दायित्व भी निभाती है। सभी दीन-दुखियों को अपना संबल देती है। वह एक कुशल गृहिणी, अच्छी पत्नी और ममतामयी माँ है।

उसमें भावना और बुद्धि, दृढ़ता और कोमलता का सुन्दर समन्वय हुआ है। सरल हृदय ऐसी कि तनिक-सी प्रशंसा में रीझ जाये। भावुक ऐसी कि तनिक से विरोध से खीज जाये। यही कारण है कि अच्छी तरह बोलने पर वह सामने वाले की सम्पूर्ण सामर्थ्य से आवभगत करती है। जिस भोला के कारण वह अपने पति से लड़ती है, उसी के द्वारा अपनी प्रशंसा सुन कर उसके मुख पर स्निग्धता झलकने लगती है। इतना ही नहीं, जब वह भूसा लेने आता है तो सीमित साधन होते हुए भी वह आदर्श गृहिणी उसकी पहुनाई करने में पीछे नहीं रहती। उसका पुत्र गोबर भोला के प्रति अशिष्टता दिखाता है तो कहती है, 'आदमी द्वार पर बैठा है, उसके लिए खाट-वाट तो डाल नहीं दी, ऊपर से लगे भुनभुनाने। कुछ तो भलमसी सीखो। कलसा ले जाओ, पानी भर कर रख दो, हाथ-मुँह धोयें। कुछ रस-पानी पिला दो। मुसीबत में ही आदमी दूसरे के सामने हाथ फैलाता है।'[1] यह निष्कपटता, उदारता और मानवीयता उस दरिद्र नारी के शृंगार हैं।

---

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ २१

होरी उसकी उदारता के अपव्यय पर खीझता है और कहता है कि 'रस-बस का काम नहीं है, कौन कोई पाहुने हैं।' इस पर वह आदर्श गृहिणी कहती है, 'पाहुने और कैसे होते हैं! रोज़-रोज़ तो तुम्हारे द्वार पर नहीं आते? इतनी दूर से धूप-धाप में आये हैं, प्यास लगी ही होगी।'[1]

भोला जब उसे 'अच्छी घरनी' कह कर उसकी प्रशंसा करता है तो वह इतनी भावुक हो उठती है कि जब होरी भोला को केवल एक खाँचा भूसा देना चाहता है तो वह कहती है, 'या तो किसी को नेवता न दो', और दो तो भरपेट खिलाओ। तुम्हारे पास फूल-पत्र लेने थोड़े ही आये हैं कि चँगरी लेकर चलते। देते ही हो, तो दो-तीन खाँचे दे दो। भला आदमी लड़कों को क्यों नहीं लाया। अकेले कहाँ तक ढोयेगा। जान निकल जायेगी'।[2] और होरी के लाख वहाने बनाने पर भी उसे और गोबर को भूसे के खाँचे भोला के घर तक पहुँचाने के लिए बाध्य करती है। धनिया में हृदय का यह खुलापन और उदारता स्वार्थहीन प्रसन्नता का परिणाम है जबकि होरी इस प्रकार की उदारता का प्रदर्शन दबाव व स्वार्थ के कारण ही करता है।

होरी समाज-भीरु है, इसलिए दस बातें अपने भाई और उसकी बहू की भी सुन लेता है लेकिन निर्भीक आत्माभिमानी धनिया को किसी प्रकार की अशिष्टता सहन नहीं। होरी का भाई हीरा अपनी पत्नी की दुर्गति करता है तो होरी उसे मार-पीट करने से रोकता, टोकता है लेकिन धनिया अपराधी को दण्ड देना अनुचित नहीं मानती और कहती है कि 'बहुरिया होकर पराये मर्दों से लड़ेगी तो डाँटी न जायेगी?'[3]

---

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ २१
[2] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ २१
[3] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ३२

प्रेमचन्द्रजी ने यह कह कर कि 'धनिया व्यवहार-कुशल न थी' उसके साथ अन्याय किया है। धनिया संसार के छल-छन्दों में भले ही प्रवीण न हो, जीवन के पथ में बुद्धिमत्ता से अग्रसर होने की सूझबूझ उसमें है। यदि होरी उसके कहने में चलता तो जो मुसीबतों का पहाड़ उसके सामने खड़ा हुआ, वह आधा रह जाता। गाय आई तो धनिया ने पहले ही भाइयों और गाँव वालों की दृष्टि पहचान कर गाय बाहर बाँधने को मना किया और नाँद आँगन में गाड़ने की राय दी लेकिन होरी न माना और बाहर ले ही गया। गाय हीरा की ईर्ष्या भरी दृष्टि में चुभ गई। होरी ने स्वयं सुना कि हीरा कह रहा था कि भाइयों के पैसे मार कर गाय ली है, 'भगवान् चाहेंगे तो बहुत दिन गाय घर में न रहेगी।'[1] हीरा के इस आक्षेप पर बात बढ़ जाने के भय से वह कुछ कहता नहीं लेकिन गाय भोला को लौटाना चाहता है और धनिया के डर से हीरा की कही हुई बात सारे गाँव के नाम से उसे बताता है। लेकिन धनिया कच्ची कौड़ियाँ नहीं खेली है, वह उड़ती चिड़िया पहचानती है, तुरन्त समझ जाती है कि हीरा ने गाय सम्बन्धी कुछ आक्षेप किये हैं। झूठे आरोपों से डरती भी नहीं है। वह निर्भीकता से होरी से कहती है 'तुम्हें भाइयों का डर हो, तो उनके पैरों पर जाकर गिरो। मैं किसी से नहीं डरती।'[2] और क्षुब्ध होकर कहती है, 'जिन डाढ़ीजारों के पीछे हम बरबाद हो गये, सारी जिन्दगी मिट्टी में मिला दी, पाल-पोस कर संडा किया, और अब हम बेईमान हैं।'[3] उसकी जिद है कि झूठे आरोप के डर से गाय नहीं लौटाई जायेगी। और उस निराधार दोषारोपण में उसका क्रोध असह्य हो उठता है। वह हीरा से लड़ने पहुँच जाती है, गरज कर कहती है – 'तू हमें देख कर क्यों जलता है? हमें देखकर क्यों

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ४१

[2] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ४२

[3] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ४२

तेरी छाती फटती है ? पाल-पोस कर जवान कर दिया, यह उसका इनाम है ? हमने न पाला होता तो आज कहीं भीख माँगते होते ?'[1]

धनिया अपने निर्णय में खरी है लेकिन रणनीति में कुशल नहीं। अन्याय के विरोध में कभी-कभी ऐसे क्रोधपूर्ण शब्द कह देती है। 'चौमुख लड़ाई लड़ती है' लेकिन करती भी क्या, झूठ, छल और कपट इस आदर्श पथगामिनी की सहनशक्ति के बाहर थे। सच्ची बात पर ही वह लड़ने गई तो कोई शर्मदार होता तो धनिया की बात पर पानी पानी हो जाता, किन्तु हीरा को लोकलाज का भी ख्याल नहीं है। बड़े भाई और भाभी के अहसानों को स्वीकार करना तो दूर की बात वह धनिया को गाली देने लगता है 'चली जा मेरे द्वार से, नहीं जूतों से बात करूँगा। झोंटा पकड़ कर उखाड़ लूंगा।'[2] ऐसे अकृतज्ञ हीरा से वह लड़ती नहीं तो क्या करती ? अन्त में इसी हीरा ने उसकी गाय को विष देकर मार डाला। क्रोधावेश में वह उससे लड़ने जाती है। उसे खरी-खरी बातें सुनाती है, किन्तु उस पर भी उसका सरल एवं स्वच्छ हृदय यकायक यह मानने को तैयार नहीं होता कि उसका ईर्षालु और कपटी देवर उसकी गाय की हत्या कर सकता है। गाय मरने पर जब होरी पूछता है कि बता धनिया, तेरा संदेह किस पर है ? तो वह किसी को भी दोष नहीं देती, कहती है 'कोई बाहरी आदमी था', और जब होरी कहता है मेरा संदेह हीरा पर होता है तो कहती है 'झूठ, बिल्कुल झूठ ! हीरा इतना नीच नहीं है। वह मुँह का ही खराब है।'[3] लेकिन जैसे ही होरी कहता है 'तेरे सिर की सौंह, मैंने अपनी आंखों से देखा है कि हीरा गाय की नांद के पास खड़ा था और उसके बाद गाय मरी है तब पहले तो धनिया को क्षोभ होता है, 'उफ्फोह ! हीरा मन का इतना

---

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ४३/४४

[2] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ४४

[3] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १०७

काला है और दाढ़ीजार को मैंने पाल-पोस कर बड़ा किया।'[1] तत्पश्चात् वह इस अनर्थ के लिए उसे दण्ड देने के लिए कटिबद्ध हो जाती है। दुर्बल मन होरी भाई को जेल होने के डर से बात छिपाता है तब धनिया कहती है 'अनर्थ नहीं, अनर्थ का बाप हो जाय। मैं बिना लाला को बड़े घर भिजवाये मानूँगी नहीं। गवाही दिलवाऊँगी तुमसे, बेटे के सिर पर हाथ रख कर।'[2] लेकिन होरी भाइयों के स्नेह के नाम पर इस आघात को भी सह लेना चाहता है। क्रान्तिकारिणी धनिया को यह सब कैसे स्वीकार हो सकता था? होरी उसे पीटता है, गोबर की झूठी कसम खाकर कह देता है कि उसने नहीं देखा हीरा को गाय की नांद के पास, तो सत्यवादिनी धनिया का मन होरी के असत्य व्यवहार के प्रति घृणा से भर उठता है। वह जमीन पर थूक कर होरी को फटकारती है।

'थुड़ी है, तेरी झुठाई पर – भगवान, आदमी मुँह से बात कह कर इतनी बेशरमी से मुकर जाता है।'[3] धनिया का मन क्षोभ से भर उठता है। जिस आदमी की गृहस्थी उसने भूखी रहकर सँभाली, वह उसे सत्य कहने के लिये पीट रहा है। लेकिन ऐसी क्रोध की स्थिति मे भी वह होरी को कोसती नहीं, जबकि हीरा की स्त्री पुनिया ने पीटे जाने पर अपने पति को जी भर कर कोसा था – 'तेरी मिट्टी उठे, तुझे हैजा हो जाय, तुझे मरी आये, देवी मैया तुझे लील जायँ,""हाय पाँव कटकर गिरें।'[4]

होरी से धनिया का सिद्धान्त सम्बन्धी कितना ही विरोध हो वह उससे प्यार करती है। क्रोध में भी उसका बुरा नहीं चाहती। उनके खाने-पीने, विश्राम करने के ध्यान के साथ [illegible]

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १०८
[2] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १०८
[3] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १०६
[4] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ३१

ध्यान रहता है कि समाज में होरी के लिये कोई मुसीबत खड़ी न हो जाय। ऐसी स्थिति में जब होरी समाज के सामने बिना अपराध के मारपीट कर उसका अपमान करता है तो वह उससे लड़ती है। यह लड़ाई धनिया की होरी से लड़ाई नहीं, लेकिन सदियों से पुरुषों द्वारा दलित नारी की लड़ाई है, जो अब बिना बात पुरुष की मार फटकार सहने को तैयार नहीं। धनिया की यह लड़ाई नारी-जाति के प्रति पुरुष की अशिष्टता, अन्याय, अपमान तथा उत्पीड़न, और समाज में फैली असत्यता के प्रति है। वह मूर्ख पुनिया की तरह पति को न कोस कर केवल यही कहती है—

'पापी ने मारते-मारते मेरा भुरकस निकाल लिया, फिर भी इसका जी नहीं भरा। मुझे मारकर समझता है मैं बड़ा वीर हूँ। भाइयों के सामने भीगी बिल्ली बन जाता है, पापी कहीं का, हत्यारा।'[1] धनिया अपनी सत्य की आवाज़ तब तक बुलन्द करती रही है जब तक जनमत उसके पक्ष में नहीं हो जाता।

जब हीरा द्वारा गाय को विष देने का अपराध प्रमाणित हो जाता है और दारोग़ाजी हीरा के घर की तलाशी लेना चाहते हैं तो होरी उन्हें रोकने के लिये रिश्वत देना चाहता है। धनिया को किसी प्रकार की बेईमानी सहन नहीं, वह घूसखोर दारोग़ा और घूस देने वाले होरी दोनों को आड़े हाथों लेती है। होरी जैसे ही दारोग़ा को रुपये देने बढ़ता है, वह एक झटके में ही अंगोछी उसके हाथ में से छीन लेती है। क्या इतना पिटने के बाद भी किसी साधारण स्त्री का इतना नैतिक साहस हो सकता है, लेकिन धनिया सामान्य नहीं है। उसे उस ढर्रे के विरुद्ध लड़ना है जो मनुष्य को पशु-सुलभ धरातल की ओर अग्रसर कर एक दूसरे का शोषण करने को बाध्य करता है। रिश्वतखोरी को वह क्यों सहन करती ? वह नागिन की तरह फुफकारती है— 'ये रुपये कहाँ लिये जा रहा है, बता। भला चाहता है तो सब रुपये लौटा दे, नहीं

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १०९

कहे देती हूँ, घर के परानी रात-दिन मरें और दाने-दाने को तरसें, लत्ता भी पहनने को मयस्सर न हो और अंजुली-भर रुपये लेकर चला है इज्जत बचाने ! ऐसी बड़ी है तेरी इज्जत ! जिसके घर में चूहे लोटें, वह भी इज्जतवाला है। दारोगा तलाशी ही तो लेगा। ले-ले, जहाँ चाहे तलाशी। एक तो सौ रुपये की गाय गई, उस पर यह पलेथन ! वाह री तेरी इज्जत।'[1] वह होरी को इज्जत के झूठे ढोंग के लिये फटकारती है, 'अपनी मेहरिया को मारे गाँव के सामने लतियाने में इज्जत नहीं जाती। यही तो वीरों का धरम है। बड़ा वीर है तो किसी मर्द से लड़।' धनिया की चुनौती क्या अनुचित ठहराई जा सकती है ? जहाँ लड़ना चाहिये वहाँ लड़ता नहीं, पत्नी यदि समाज के अन्याय और शोषण के विरुद्ध आवाज उठाती है तो वह उसे पीटकर वीरता का प्रदर्शन करता है।

दारोगा जब अपनी काली कमाई मटाई में पड़ती देखता है तो धनिया पर झूठा दोष मढ़ता है कि गाय इसी ने मारी होगी। अब व्यर्थ शोर मचाकर दूसरों को फँसाना चाहती है, तो वह होरी को छोड़ कर उसे भी फटकारने लगती है।

'तुम्हारे तहकियात में यही निकलता है, तो यही लिखो। पहना दो मेरे हाथ में हथकड़ियाँ। देख लिया तुम्हारा न्याय और तुम्हारे अकल की दौड़। गरीबों का गला काटना दूसरी बात है। दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी बात।'[2]

मुखिया भी उसकी फटकार से नहीं बचते। 'ये हत्यारे गाँव के मुखिया हैं, गरीबों का खून चूसनेवाले ! सूद-ब्याज, डेढ़ी-सवाई, नजर-नजराना, घूस-घास जैसे भी हो, गरीबों को लूटो।'[3] फिर वह देश-भक्ति का झूठा ढोंग करने वालों को भी फटकारती है–'सुराज

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ११३
[2] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ११४
[3] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ११४

चाहिये। जेल जाने से सुराज न मिलेगा। सुराज मिलेगा धरम से, न्याय से।' यह केवल धनिया की वाणी नहीं, वरन् उस युग के जन-जन के मन का उफनता आक्रोश है जिसे धनिया ने सहज ढंग से वाणी दी है। सूझबूझ वाली धनिया की फटकार से 'नेताओं के मुंह में कालिख-सी' लग गई। दारोग़ा भी उसके इस अद्भुत साहस से अभिभूत हो जाता है और कहता है—'औरत है बड़ी दिलेर।' यह वह तेज है जो उसे स्त्रियों का ही नहीं, वरन् पुरुषों का भी नेतृत्व प्रदान करता है। सारा गाँव इस क्रान्तिकारिणी नारी से थर्राता है।

धनिया अन्याय से खीझ कर कितनी ही क्यों न उग्र हो जाये, उसका मन दर्पण-सा स्वच्छ है। यदि वह अन्याय और अत्याचार का सामना साहस से करती है तो दैन्यपूर्ण स्थिति में अपराधी को भी क्षमा कर देती है। उसकी यह विशेषता विरोधियों के मन को भी प्रभावित करती है।

गाय मार कर हीरा भाग गया है। पुनिया असहाय हो गई है। परम्परा-प्रेमी होरी छोटे भाई की पत्नी के प्रति अपना दायित्व मान उसकी खेती में लगा रहता है और हीरा के गहन अपराध से क्षुब्ध होते हुये भी धनिया होरी से कुछ नहीं कहती। उसे चुप रहने के लिये कोई बाध्य नहीं कर रहा था। उस मौन का कारण होरी से विरक्ति भी नहीं थी। यह तो उसकी मानवीयता थी जिसके कारण असहाय पुनिया पर उसे दया आ गई। ऐसी दया, करुणा और ममता से पूर्ण नारी को क्या केवल कर्कशा और लड़ाकू माना जा सकता है? वह चाहती तो इस समय भी होरी से लड़ सकती थी। धनिया का कारुण्य उसे एक ओर गिरे हुये को उठाने की शक्ति देता है तो दूसरी ओर अपराधी को क्षमा करने की उदारता भी। यही कारण है कि जब भी कोई प्रताड़ित उसकी शरण में आ जाता है तो वह पूर्ण ममत्व से उसे शरण देती है और उसके संरक्षण में अपनी मान-मर्यादा तक लुटा देती है। गर्भवती झुनिया के आगमन पर पहले तो वह अत्यन्त क्रोधित

होती है। होरी से वारा-न्यारा करने को तत्पर हो जाती है। कहती है, 'मेरे घर में ऐसी छत्तीसियों के लिये जगह नहीं है और अगर तुम बीच में बोले, तो फिर या तो तुम्हीं रहोगे, या मैं ही रहूँगी।'[1] किन्तु जब होरी झुनिया को घसीट कर गांव से बाहर कर देने की धमकी देता है[2] तो धनिया का ममतापूर्ण हृदय पसीज जाता है। वह एक गर्भवती असहाय नारी के भविष्य के लिये आशंकित हो उठती है, कहती है – 'कालिख जो लगनी थी, वह तो अब लग चुकी। वह अब जीते-जी नहीं छूट सकती' और उस अभागिनी झुनिया को धनिया का मातृ-स्नेह क्षमा कर देता है। वह होरी को स्वयं अपनी सौगंध दिलाकर रोकती है – 'देखो तुम्हें मेरी सौंह, उस पर हाथ न उठाना। वह तो आपही रो रही है। भाग की खोटी न होती, तो यह दिन ही क्यों आता।'[3] दुर्भाग्य से पीड़ित चिन्ता-जर्जर एक माता उस 'भाग की खोटी' अबला की रक्षा के लिये कटिबद्ध हो जाती है।

धनिया के ममत्व की यही विशेषता है जो उसे पीड़ित, दलित नारियों को ऊँचा उठने का सहारा और साहस देती है। प्रेमचन्दजी के शब्दों में –

'धनिया का यह मातृ-स्नेह उस अंधेरे में भी जैसे दीपक के समान उसकी चिन्ता-जर्जर आकृति को शोभा प्रदान करने लगा .... उस आलिंगन में कितना अथाह वात्सल्य था, जो सारे कलंक, सारी बाधाओं और सारी मूलबद्ध परम्पराओं को अपने अन्दर समेटे लेता था।'[4]

झुनिया जब इन दोनों के पांव पड़ जाती है तो होरी उसे आश्वासन देकर समाज को भोज देने की बात करता है, लेकिन क्रान्तिकारिणी धनिया जो थोड़ी देर पहले उसे कुलटा और कलंकिनी कह

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १२१
[2] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १२१
[3] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १२२
[4] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १२२

कर डाँट रही थी, उससे भिन्न आश्वासन देती है – 'तू चल घर में बैठ, मैं देख लूंगी काका और भैया को। संसार में उन्हीं का राज्य नहीं है। बहुत करेंगे, अपने गहने ले लेंगे। फेंक देना उतारकर।' उसे गले से लगा लेती है, और अपने बेटे की कायरता को धिक्कारते हुये कहती है, 'कायर कहीं का। जिसकी बाँह पकड़ी, उसका निबाह करना चाहिये कि मुंह में कालिख लगाकर भाग जाना चाहिये।'[1] इसके बाद भुनिया को लेकर उसे जाने कितनी बातें सुननी पड़ती हैं, कितनी ही विपत्तियों का सामना करना पड़ता है, लेकिन भुनिया का हाथ उसने नहीं छोड़ा (यहाँ तक कि पंचों ने उसे जाति बाहर कर दिया)। दातादीन ने जब उसे बहकाने की चेष्टा की तो वह मन ही मन सोचती है कि 'मरे को क्या मारे' और दातादीन को जो जाति और परम्पराओं के नाम पर मानवीयता को खण्ड-खण्ड करके, कुल-प्रतिष्ठा का दम भरने वाला है, फटकारती है–'हमको कुल–परतिसठा इतनी प्यारी नहीं है महाराज, कि उसके पीछे एक जीव की हत्या कर डालते। ब्याहता न सही; पर उसकी बाँह तो पकड़ी है मेरे बेटे ने ही।'[2] पूर्वाग्रहों में बंधी एक साधारण नारी का इतना नैतिक साहस कभी नहीं हो सकता था। पंच सभा बैठी तो उसने पंचों से भी यही कहा 'पंचो, गरीब को सताकर सुख न पाओगे·········मुझ से इतना कड़ा जरीबाना इस लिये लिया जा रहा है कि मैंने अपनी बहू को क्यों अपने घर में रखा। क्यों उसे घर से निकाल कर सड़क की भिखारिन नहीं बना दिया? यही न्याय है, ऐ?'[3] पंचों के सामने झुककर चलने वाले होरी में इतना साहस नहीं था कि उनके न्याय पर प्रश्न-चिह्न लगा सकता। लेकिन धनिया अन्याय नहीं सह सकती है। 'मैं न एक दाना अनाज दूँगी, न एक कौड़ी डांड़। जिसमें बूता हो, चलकर मुझ से ले।······हमें नहीं

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १२३
[2] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १२४
[3] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १२७, १२८

रहना है बिरादरी में। बिरादरी में रहकर हमारी मुकुत न हो जायगी। अब भी अपने पसीने की कमाई खाते हैं, तब भी अपने पसीने की कमाई खायेंगे।'[1] और होरी धनिया की इच्छा के विरुद्ध जब डाँड़ भरता है तो वह यह कहती है 'यह पंच नहीं हैं, राक्षस हैं, पक्के राक्षस! यह सब हमारी जगह-जमीन छीन कर माल मारना चाहते हैं।'[2] होरी से कहती है कि तुमने अकेले ही सब बुद्ध नहीं कर लिया है। मैं भी अपनी बच्चियों के साथ सती हुई हूँ। सीधे टोकरी रख दो, नहीं आज सदा के लिये नाता टूट जायगा।'[3] यह उत्पीड़ित नारी की जाति, समाज और वर्ग भेद फैलाने वाली प्रथाओं के विरुद्ध पुकार है। धनिया के दावे अर्थ-हीन नहीं। नारी के अधिकारों की पुकार है। होरी सचमुच सहम जाता है। वह धनिया के बिना जीवन-संघर्ष में आगे बढ़ने की कल्पना भी नहीं कर सकता। इतना ही नहीं धनिया जो कहती है वही व्यवहार में भी लाता है। इसीलिये धर्म और समाज के ठेकेदारों को चुनौती देते हुये झुनिया के लड़का होने पर सोहर गा-गा कर खूब खुशी मनाती है। होरी जब पंचों को डाँड़ के रूप में देने के लिये घर रेहन रख ८० रुपये लाया तो वह कहती है कि तुम इतने भोंदू क्यों हो? ....मैं तुमसे पूछती हूँ, तुम्हारे क्या मुँह में जीभ न थी कि उन पंचों से पूछते, तुम कहाँ के बड़े धर्मात्मा हो जो दूसरों पर डाँड लगाते फिरते हो? तुम्हारा तो मुँह देखना भी पाप है।'[4] होरी के यह कहने पर कि अभी बिरादरी के चक्कर में पड़ी नहीं हो, वह कहती है कौन सा पाप किया है, जिसके लिये बिरादरी से डरें, किसी की चोरी की है, किसी का माल काटा है। मेहरिया रख लेना पाप नहीं है। हाँ रख के छोड़ देना पाप है।'[5]

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १२८
[2] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १२६
[3] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १२६
[4] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १३०
[5] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १३०

धनिया की विचारधारा की यह स्पष्टता वर्तमान युग की क्रान्ति की पूर्वपीठिका कही जा सकती है। आज व्यक्ति समाज के ठेकेदारों का पर्दाफाश कर अपने जीवन को अपनी इच्छानुसार जीने के लिये संघर्ष कर रहा है, वह पूँजीवाद से ही नहीं उसके साथ जुड़े हुये सभी विकारों से लड़ रहा है।

वास्तविकता से कतरा कर भाग जाने वाला गोवर जब वापस आया तो होरी ने मुंह फेर लिया लेकिन ममतामयी क्षमाशील सरल-हृदया धनिया ने केवल इतना ही कहा – कहाँ थे तुम इतने दिन ? भला इस तरह कोई घर से भागता है ? और कभी एक चिट्ठी तक न भेजी।'[1] यदि धनिया प्रेमचन्दजी के लिखे अनुसार सचमुच कर्कशा ही होती तो गोवर को घर में पाँव नहीं रखने देती, लेकिन वह केवल प्यार और ममता की देवी है। उसका समस्त आक्रोश झूठे ढोंग और अन्याय के प्रति है। यदि कोई भूल करने के बाद राह पर आ जाता है तो वह उसे सहज रूप में क्षमा भी कर देती है। यह बात नहीं कि गोवर उसका अपना बेटा था इसलिये उसने उसे क्षमा कर दिया; दूसरों के लिये भी वह उदार है। मातादीन और सिलिया उसके कोई नहीं। पर उनके लिये भी होरी के विरोध करने पर भी उसने जाति-पाँति की अनेक कट्टरताओं को ठोकर मारकर, सिलिया चमारिन को अपने घर में स्थान दिया। शरण ही नहीं दी उस पर किये गये अत्याचारों के विरोध में समाज से टक्कर भी ली।

धनिया को बलपूर्वक कोई अन्याय सहने के लिये बाध्य नहीं कर कर सकता, लेकिन यदि सामने वाला मान जाता है तो वह भी समझौता कर लेती है। सोना के विवाह में दहेज देने को नहीं है। होरी को कर्ज लेने के लिये बाध्य होना पड़ रहा है लेकिन धनिया नहीं मानती है, लेकिन जब सोना की चातुरी से समधी गोरी होरी को यह लिख देते हैं कि दान-दहेज की फिकर मत करना तो धनिया का स्वाभिमान जाग्रत

---

[1] प्रेमचन्द', 'गोदान', पृष्ठ २०८

हो जाता है। नौहरी जैसी नीच स्त्री का अहसान लेकर भी वह कुल-मर्यादा का निर्वाह करती है। वह कहती है वह गोरी महतो की मन-मंसी है लेकिन – उसे तो अपनी मरजाद का निर्वाह करना है। संसार क्या कहेगा? रुपया हाथ का मैल है, उसके लिये कुछ मरजाद का निर्वाह नहीं छोड़ा जाता। माँ-बाप की कमाई में क्या लड़की का कोई हक नहीं। होरी इस कुल-मर्यादा को दूसरों के दबाव से निभाता है वह अपनी इच्छा से।

वह किसी का अहसान लेने में अपमानित अनुभव करती है। यही कारण है कि डाँड भरने के बाद अनाज नहीं रहता और पुनिया उसे अनाज देती है तो वह अनाज इसलिये नहीं लेती कि वह दया की पात्री है, वरन् इसलिये कि उस अनाज को उपजाने में उसके पति ने भी परिश्रम किया है और लेने का पूरा अधिकार होते हुये भी सामने आने पर वह लौटा देगी! वह मर्यादा विरुद्ध कहीं से भी पैसा लेना नहीं चाहती। जब दातादीन रूपा का ब्याह एक अधेड़ से करा कर बदले में ब्याह खर्च और खेतों को छुड़ाने की बात कहते हैं तो वह होरी को डाँटती है – 'साफ क्यों नहीं बोलते कि वे लड़की बेचने को कहते थे।' लेकिन जब वह रामसेवक को देखती है तो प्रभावित होती है और वह उसे अपनी लड़की के लिये स्वीकार कर लेती है, इसलिये नहीं कि वह धन दे रहा था, या वह समाज की कुप्रथा के वशीभूत हो गई है, वरन् इसलिये कि वह अच्छा आदमी था। ऐसी न्यायप्रिय धनिया के साथ ईश्वर ने न्याय नहीं किया। ऐसी स्थिति में ईश्वर के प्रति क्या आस्था डगमगाने नहीं लगती? इसे वर्तमान युग की अनास्था की पृष्ठभूमि कह सकते हैं।

हीरा के प्रसंग में लड़ाई हुई तभी से होरी बीमार रहने लगा। सरलहृदया धनिया सब मारपीट भूल कर उसकी सेवा करती है। 'पति जब मर रहा है तो उससे कैसा बैर। ऐसी दशा में तो बैरियों से भी बैर नहीं रहता, वह तो उसका पति है। लाख बुरा है ...

के साथ जीवन के पच्चीस साल काटे हैं। सुख किया है तो उसी के साथ, दुःख पाया है तो उसी के साथ। अब तो चाहे वह अच्छा है या बुरा, अपना है।'

होरी की हालत फिर नहीं सुधरी। दिन पर दिन गिरती गई। यद्यपि बुरे दिनों में धनिया ने उसके कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष किया, तथापि मजदूरी कराने वाले कड़ाई से काम लेते थे। तिस पर जो कुछ मिलता था उसमें से कुछ ठीक से खाने के लिये नहीं बचता था। ऐसी स्थिति में वह शक्तिहीन हो जाता है, उसे लू लग जाती है तो धनिया घबरा जाती है। पतिव्रता धनिया का होरी ही एकमात्र आधार है। उस सत्य की देवी की तरफ कभी किसी की आँख उठाकर भी देखने की हिम्मत नहीं हुई थी। कभी किसी ने उसे किसी दूसरे की ओर तकते नहीं देखा। पटेश्वरी ने एक बार कुछ छेड़-छाड़ की थी। उसका ऐसा मुँहतोड़ जवाब दिया कि कभी न भूले।

धनिया जबान की तेज है पर उनका हृदय फूल-सा कोमल है। वह उन भारतीय नारियों में से है जो सतीत्व की रक्षा करती हैं, अपने आत्म-सम्मान को अक्षुण्ण रखती हैं, मुसीबतों से घबरा कर भी कभी असत्य से लड़ना नहीं छोड़तीं, और न सत्य का पक्ष त्यागती हैं। प्यार और प्रशंसा में कोमल, अन्याय और आक्रोश में कठोर। दुःखी-दीन की सहायक और अन्यायियों की विरोधिनी। ढोंग और दंभ की विरोधिनी और मानवीयता की प्रतिष्ठात्री; ऐसी धनिया का होरी जब संघर्ष में जूझता हुआ मर जाता है तो वह एकदम जड़ हो जाती है, उसका मन घायल हो जाता है। ईश्वर ने उसे परिश्रम, सत्य और कर्त्तव्य-निष्ठा का क्या विपरीत फल दिया ! फिर भी वह कर्त्तव्य और धैर्य नहीं खोती। वह सुख सुहाग का आधार, उसका पति जिस पर जीवन टिका था जैसे खिसका जा रहा है। लेकिन नहीं यह धैर्य का समय है, उसकी शंका निर्मूल है, लू लग गई है इसी से अचेत हो गये हैं।

'सब कुछ समझ कर भी धनिया मिटती हुई आशा को पकड़े हुए थी। आँखों से आँसू गिर रहे थे, मगर यन्त्र की भाँति दौड़-दौड़ कर कभी आम भून कर पना बनाती, कभी होरी की देह में गेहूँ की भूसी की मालिश करती।'[1] क्या करती ! जीवनभर परिश्रम करने पर भी उसके पास पैसे नहीं थे कि डाक्टर बुला सकती।

समाज और धर्म के ठेकेदारों को रोगी के इलाज के बदले अपनी घिसी-पिटी रूढ़ियों के निर्वाह की पड़ी है —

'इसकी गाय मार डालने वाला हीरा कह रहा था कि 'भाभी दिल कड़ा करो, गोदान करा दो।'

उसने हीरा को तिरस्कार से देखा और यन्त्र की भाँति उठकर सुतली बेच कर २० आने पैसे जो उसे मिले थे, वही लाई और अपने पति के ठण्डे हाथ पर रख दिये। दातादीन से बोली —

'महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गो-दान है। और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।'[2] वह फौलाद सी नारी जिसने समाज की न जाने कितनी सड़ी-गली परम्पराओं को ठोकर लगाई थी, अन्याय और अत्याचार से लोहा लिया था, दम्भियों को दबाया था, पापियों का पर्दा फाश किया था, ढोंगियों को धिक्कारा था, आज जीवन-साथी के बिना असहाय हो गई थी। कैसा विधान है विधि का ! कैसी करुण स्थिति है धनिया की ! अपनी सम्पूर्ण निष्ठा, त्याग, परिश्रम और संघर्ष के उपरान्त भी वह अपने पति को समाज के प्रहारों से बचा न पाई। जाति, समाज और धर्म के ठेकेदारों ने उसे तिल-तिल करके मार डाला है। प्रेमचन्दजी की धनिया ने समाज, धर्म और जाति के इन ठेकेदारों और समाज के विकारों को चुनौती दी है, जो मनुष्य को ऊँचा नहीं उठने दे रहे और होरी जैसे लाख-लाख व्यक्तियों के बलिदान लेकर भी जिनकी भूख नहीं मिटती।

---

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ २६३

[2] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ २६४

समाज की पहाड़-सी बुराइयों को ढहाने के लिये धनिया का अस्तित्व भले ही छोटा हो, लेकिन यह नहीं भूलना चाहिये कि आग लगाने के लिये छोटी-सी चिनगारी भी पर्याप्त होती है। धनिया वह चिनगारी है जिसके द्वारा प्रेमचन्द ने क्रान्ति की ज्वाला की वह ज्योति जगा दी थी जो सन् पचास के बाद के समाज और साहित्य में प्रज्ज्वलित हो उठी है।



प्रेम और त्याग की प्रतिरूप

निपुणिका



'वह स्त्री-जाति का शृंगार थी
सतीत्व की मर्यादा थी।'



सोलह

'बाणभट्ट की आत्मकथा' हिन्दी साहित्य की एक अनुपम कृति है। केवल इसलिए नहीं कि इसको हिन्दी के सर्वमान्य विख्यात पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, किन्तु इसलिये कि यह एक सफल ऐतिहासिक कथाकृति है। विद्वान् लेखक की प्रखर लेखनी ने हर्षकालीन समाज के ऐतिहासिक तथ्यों का सजीव चित्रण किया है और उनकी पृष्ठभूमि में, हमारे सम्मुख अनेक आदर्श चरित्र प्रस्तुत किये हैं, जो रूढ़िवादिता को ठुकराते हुए प्रगति एवं मानवीयता के संदेशवाहक के रूप में प्रकट होते हैं। हर्षकालीन जीवन के चिर-परिचित तथ्य-नवीन सौंदर्य, नवीन वैभव और नये संदर्भ के साथ प्रस्तुत किये गये हैं। तत्कालीन युग की राजनीतिक विशृंखलता, सामाजिक उथल-पुथल और विविध धर्मों का संघर्ष इस ग्रन्थ में चित्रित है, साथ ही इन विशृंखलित अन्धकारमय परिस्थितियों के बीच से 'आत्मकथा' के प्रत्येक पात्र के व्यक्तित्व में मानवता की ज्योति विकीर्ण होती हुई आभासित

होती है। मानवता की इस ज्योति के दर्शन धीर, शान्त, स्नेही, करुणामय और महिमाशाली सुगतभद्र,[1] धीर वीर तथा विवेकी महासन्धिविग्रहिक[2] कृष्णवर्धन, एवं स्वच्छ-हृदय, कलाविद तथा प्रकाण्ड पण्डित बाण जैसों के व्यक्तित्व में तो होते ही हैं, अन्य सामान्य पुरुष-पात्रों को भी मानवता के इस प्रकाश का अंश मिला है। नारी-पात्रों को इस ग्रन्थ में प्रमुख स्थान मिला है – इनमें से महिमामयी चन्द्रदीधित तेजोदीप्त महामाया, धर्मनिष्ठ, सुचरिता, और असफल प्रेम पर अपने प्राणों को उत्सर्ग कर देने वाली निपुणिका विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। विभिन्न सामाजिक स्तरों का प्रतिनिधित्व करने वाली ये सभी नारियाँ धर्मनिष्ठ और कर्तव्यपरायण हैं। इनका चरित्र तथा इनका आचरण अतुलनीय है। वास्तव में ये नारीपात्र और विशेष रूप से निउनिया इस 'आत्मकथा' के कथा-सूत्र का संचालन करती हैं। शेष सब साधन मात्र हैं', स्वयं कथानायक बाणभट्ट भी। उसके प्रत्येक कार्य-कलाप की प्रेरणा का सूत्र निपुणिका है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में द्विवेदीजी ने विवश, अशक्त, अज्ञान के गर्त में डूबी हुई, पुरुष के हाथ का खिलौना बनी हुई तथा केवल पुरुष-भोग्या मानी जाने वाली नारी को जगाया है। उसकी वास्तविक महिमा को प्रकट किया है और उसे उसकी सामाजिक तथा नैतिक सार्थकता से अवगत कराया है। इस 'आत्मकथा' की नारी अपने वास्तविक मूल्य को आंक कर भी पुरुष के प्रति विद्रोह नहीं करती, पुरुष से सर्वथा स्वतन्त्र होने में वह अपनी सार्थकता नहीं मानती। पुरुष और नारी, नारी और पुरुष दोनों के सहयोग और साहचर्य में ही जीवन की सफलता है। निपुणिका इस बात का प्रमाण है। वह बाण से प्रेम करती है, उसका साहचर्य यथार्थ रूप में चाहती है। असामर्थ्यवश बाण

---

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ ५३

[2] हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ ३३

अन्त तक उसकी इस भावना से अवगत होते हुए भी यथोचित मान्यता नहीं दे पाता। किन्तु इस कारण निपुणिका उससे क्रोधित नहीं होती, उसको छोड़कर जाती नहीं। वह अन्त तक बाण की सहायता करती रहती है, उसका मार्ग-दर्शन करती रहती है और स्वयं प्रेम की ज्वाला में तिल-तिल जल कर अपने आपको खपा देती है। महान् आदर्शमय चरित्र की प्रतीक निपुणिका 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के समाज की संचालिका है। उसका चरित्र ज्यों-ज्यों उद्घाटित होता है, खिलते पुष्प की पँखुड़ियों की तरह एक-एक मानवीय गुण उसके व्यक्तित्व को आकार देते हैं, उसकी विशेषताएँ स्पष्ट करते हैं और अन्ततः समस्त रूप, रस और मधुर गंध से पूर्ण सुन्दर पुष्प की भाँति उसका व्यक्तित्व प्रस्फुटित हो उठता है।

निपुणिका कमल पुष्प के समान है जो पंक में जन्म लेकर भी निर्मल और स्वच्छ होता है। निपुणिका ऐसी जाति की स्त्री है 'जो किसी समय अस्पृश्य समझी जाती थी परन्तु जिनके पूर्व-पुरुषों को सौभाग्यवश गुप्त-सम्राटों की नौकरी मिल गई थी। नौकरी मिलने से उनकी सामाजिक मर्यादा कुछ ऊपर उठ गई—वे आजकल अपने को पवित्र वैश्यवंश में गिनने लगी हैं।'[1] उसका विवाह किसी कान्दविक वैश्य के साथ हुआ जो भड़भूंजे से ऊपर उठ कर, सेठ बना! एक वर्ष में ही निपुणिका का सौभाग्य-सुख समाप्त हो गया। उसने प्रारम्भ में उन लाख-लाख उत्पीड़ित नारियों की तरह दुःख सहे जो संसार के संकीर्ण प्रयोजनों के निकट कल-संचालित पुतलियों की तरह कार्य करती रहती हैं और केवल माता और गृहिणी के ढाँचों में ढली, जीवन के प्रवाह में बहती रहती हैं। अंततः दुःखों का दबाव उसे इस ढाँचे से निकल कर स्वतन्त्र नारी के रूप में अस्तित्व-प्रतिष्ठा के लिये बाध्य करता है।

एक दिन वह कृत्रिम बंधन तोड़कर अपने अस्तित्व की सफलता और सार्थकता के लिये घर से निकल पड़ती है और वह बाणभट्ट की

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ १७

नाटक मण्डली में आश्रय ग्रहण करती है। बाण उसकी प्रतिभा को पहचान कर उसका स्वागत करता है और शेफालिका के कुसुमनाल-सा उसका वर्ण, चारु-चक्षु, पतली छरहरी अंगुलियाँ नाट्य-कला के लिये उपयुक्त सिद्ध होती हैं। वह एक सफल अभिनेत्री सिद्ध होती है, किन्तु विधि का विधान कुछ और ही था। स्त्री-शरीर को 'देव-मन्दिर के समान पवित्र'[1] मानने वाले बाण की ओर वह आकर्षित हो जाती है। एक दिन जब बाण का अभिनय सफल होता है तो वह उसकी विजय के उपरान्त देवताओं के लिये पुष्पोपहार की प्रणामांजलि लेकर रंगभूमि में आती है। उसका अभिनय और गान दोनों ही अपूर्व सफलता प्राप्त करते हैं। निपुणिका की विजय-दीप्त सुन्दर मुद्रा बाण जैसे जड़ पाषाण पिण्ड में भी विक्षोभ का तूफान उठा देती है।[2] लेकिन यह विक्षोभ का तूफान और निपुणिका की सफलता दोनों ही अपूर्ण रहते हैं। निपुणिका के व्यक्तित्व में सौन्दर्य, प्रेम और कला के समन्वय से मालविकाग्निमित्र की मालविका जैसा जो निखार आया, बाण उससे आकर्षित और अभिभूत तो अवश्य हुए, लेकिन उससे बँधे नहीं। निपुणिका की सलज्ज मुस्कान को देखकर उत्पन्न हुई बाण की खिलखिलाहट ने उसके प्रेम के सम्मोहन को भंग कर दिया और प्रेम में असफलता के इस आघात को वह आत्मभिमानिनी सह नहीं सकी। उसका इष्ट भी जो नारी को देव-मंदिर समझने वाला है, यह नहीं समझ सका कि 'यह मन्दिर हाड़-मांस का है, ईंट चूने का नहीं।' उसने निपुणिका की आशाओं को धूलिसात् कर दिया[3] और निपुणिका नाटक मण्डली छोड़ कर चली गई। निपुणिका का इष्ट उसको

---

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ १८

[2] हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ १९

[3] हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ २३
'उस दिन मेरा निश्चित विश्वास हो गया कि तुम जड़ पाषाण-पिण्ड हो; तुम्हारे भीतर न देवता है न पशु, है एक अडिग जड़ता।'

ढूंढने के लिये भटक-भटक कर शान्त हो गया। इसके बाद जीवन में निपुणिका ने अनेक दुःख झेले, लेकिन क्षणभर के प्रत्याख्यान के समान कष्ट उसे कभी नहीं हुआ। यद्यपि बाद में संसार की ठोकरों ने उसे यह अनुभव करा दिया कि भट्ट की यह जड़ता ही अच्छी थी। भट्ट का आश्रय छोड़ने से ही उसे दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। उसे ऐसे लोग मिले जो स्त्री-शरीर को 'देव-मंदिर' नहीं समझते थे।

निपुणिका को सदा अपने सुख-दुःख से अधिक अपने प्रिय बाण के मान-सम्मान और कुशलता की चिन्ता रही है। इसलिये भट्ट जब उससे छः वर्ष बाद मिलता है तो वह यही कहती है कि 'तुम जो कुछ हो, इससे कहीं श्रेष्ठ हो सकते हो। इसलिये कहती हूँ, तुम यहाँ मत रुको।'[1] जिन परिस्थितियों में वह रह रही थी वे उसे स्वीकृत नहीं थीं। उसे समाज से सम्मान प्राप्त नहीं था, लेकिन वह मन की बड़ी स्वच्छ और निर्मल थी। समाज उसके स्वतन्त्र जीवन का अस्तित्व सहन न कर सकने के कारण भले ही उसे कुल-भ्रष्टा समझे, उसके सद्गुणों का मूल्य न समझे, वह स्वयं विनम्रतावश अपने को कितना ही तुच्छ समझे, लेकिन उसको निकट से जानने वाले सभी उसकी महत्ता, महिमा और श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं। बाण महावराह की उस निश्छल सेविका को पहले जैसा ही पवित्र समझते हैं, पूजा करती हुई निपुणिका को देखकर बाण कहते हैं—'निपुणिका धन्य है, महावराह धन्य है, तुलसी धन्य हैं, और मैं अभागा बाण इन तीनों को देख रहा हूँ सो धन्य ही हूँ·······मैं क्षण-भर के लिये भूल गया कि निपुणिका हमारी नाटक-मण्डली की परिचित निउनिया है। ऐसा लगता था कि वह कोई देवांगना है और इस कलुष-धरित्री को छोड़ कब ऊपर उड़ जायेगी, यह कहा नहीं जा सकता।'[2]

---

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ २४

[2] हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ २५/२६

निपुणिका अपने समस्त साहस और तूफानी नृत्य से तान्त्रिकों को प्रसन्न कर स्वयं विपत्ति झेल, भट्ट को बचाती है।

'निपुणिका उन्मत्त की भांति वेदी की ओर बढ़ी। उसके पैरों में जैसे किसी ने आंधी बांध दी हो......निपुणिका आंधी की तरह आई। उसने एक ही धक्के में चण्डमण्डना को झटक कर छीन लिया। खट्वांग लेकर निपुणिका ने विकट नृत्य शुरू किया। उसके उद्धत संचार से हवन-कुण्ड विध्वस्त हो गया, लाल पताका विच्छिन्न हो गई और यूपकाष्ठ चूर्ण-विचूर्ण हो गया।.......उसके एक-एक पद-संचार से धरित्री धसक रही थी, तारा-मण्डल लड़खड़ाता-सा जान पड़ता था और कराला का मुण्डमाल खटखटा उठता था......निपुणिका बेहोश हो गई।'[1]

इस प्रकार निपुणिका ने स्थान-स्थान पर पुरुष को चुनौती देने वाले विवेक और साहस का परिचय दिया है। स्पष्टवादिता में तो उसकी कोई समानता नहीं कर सकता। बाण समझता है कि उसने निपुणिका का साथ देकर उस पर और भट्टिनी पर बहुत उपकार किया है। वह निपुणिका से कहता है—

'मैं सोचता हूँ कि कहीं तू अकेली ही भट्टनी को लेकर इधर आई होती, तो कितना कष्ट होता!'

'सो तो होता ही।'

इस समय मैं जो कुछ कर रहा हूँ, उस समय उतना भी तो नहीं हो पाता।

लेकिन निपुणिका का उत्तर सुन कर भट्ट निर्वाक् रह जाता है। वह कहती है—'इतना तो हो जाता, भट्ट।'

'कौन करता भला?'

'पुजारी।'

'पुजारी? पर तू तो पुजारी से डरी हुई थी, निउनिया।'

---

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ १८५

'पुजारी-जैसे मूर्ख रसिकों से डरती, तो निउनिया आज से ६ वर्ष पहले ही मर गई होती, भट्ट !'[1]

बाणभट्ट की इस प्रकार की भोली मान्यताओं के प्रसंग में विनोद और परिहास का आनन्द लेने में भी वह नही चूकती। वह भट्ट के यह पूछने पर कि तू किससे डरी थी भला ? वह उत्तर देती है – 'तुमसे' और इस बात को लेकर भट्ट को खूब खिजाती है। मीठे परिहास और सहज विनोद के दर्शन उसकी बातचीत में स्थान-स्थान पर होते हैं। जैसे 'भोजन का गौरव तो भट्ट को मिलना चाहिये।'

निपुणिका ने बाण के समस्त कृतित्व का संचालन किया है, जब कभी वह विपत्ति में पड़ा निपुणिका ने ही उसके लिये पथ खोजा है। वह समस्त कथा की केन्द्रीय शक्ति और सूत्रधारिणी है और जब तक नाटक-मण्डली में रही, बाण की सहायता करती रही। ६ वर्ष बाद जब वह भट्ट से मिली तो उसके जीवन को विशिष्ट दिशा एवं नये मोड़ देने का श्रेय उसी को है। भट्टिनी के उद्धार के लिये बाण को उसीने प्रेरित किया है। भट्टिनी के लिये राज्यश्री के आश्रय को उसीने अस्वीकार किया और स्वतन्त्र रानी के रूप में भट्टिनी को रखने की व्यवस्था उसीने सुझाई है। अन्त में महाराज को प्रसन्न करने के लिये उसीने रत्नावली-नाटिका को अभिनीत किये जाने का सुझाव दिया। छोटे-बड़े सभी कार्यों में वह भट्ट को मंत्रणा देती है, उचित-अनुचित का निर्णय करती है, भूलें सुधारती है।[2] 'हाँ निउनिया, भूल करता हूँ मैं और रास्ता निकालती है तू !' देर तक वह अपने ही विचारों के तरंगावर्त में डोलती रही फिर एकाएक गंभीर होकर बोली – 'हँसी नहीं कर रही हूँ भट्ट, मैं सचमुच रास्ता निकालने आई हूँ।'[3] इस प्रकार गलत मार्ग पर जाने से वह बाण को रोकती है।

---

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ ६६
[2] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ ३०५
[3] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ ३०७

'धिक्कार है भट्ट, तुम कैसे भट्टिनी का अपमान करने पर राजी हो गये ! कान्यकुब्ज का लम्पट-गरण्य राजा क्या भट्टिनी के सेवक को अपना सभासद् बनाने की स्पर्द्धा रखता है ? किस बुद्धि ने तुम्हें मौखरियों की रानी का निमंत्रण ढोने को उत्साहित किया ? धिक्कार है भट्ट, तुम अत्यन्त सहज बात भी नहीं समझ सके ? क्या इस पत्र को चिथड़े कर फेंक देने लायक शक्ति भी तुम में नहीं थी ?'[1]

निपुणिका के उत्तेजना में कहे हुये शब्द ही भट्ट का प्रमाद नष्ट करने में समर्थ होते हैं। बाण प्रायश्चित्त करते हैं 'इस देव-दुर्लभ महिमा को मैंने लांछित होने दिया है···मेरा हृदय गल कर इस देवी के चरणों पर ढरक जाने को व्याकुल हो गया। मेरा गला रुँध गया। वाक्शक्ति लोप हो गई, अविरल अश्रुधारा से दृष्टि आच्छादित हो गई, लज्जा और अनुताप से सारा शरीर दग्ध होने लगा, मुझे दिशायें शून्य-सी लगने लगीं।'[2]

भट्ट का निपुणिका की भर्त्सना से प्रभावित होना अस्वाभाविक नहीं है। भट्ट निपुणिका की शक्ति से परिचित है, उसकी बुद्धि से आश्वस्त है और उसके निष्कपट प्रेम से अवगत है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक सेवा, परोपकार और न्याय-बुद्धि-वश निपुणिका भट्टिनी के उद्धार के लिये तत्पर हुई, लेकिन उसके जीवन में भट्ट का प्रेम ही सर्वोपरि है। जब वह देखती है कि उसका प्रिय भट्टिनी की ओर आकर्षित हो गया है तो वह अपना प्रेम अदृप्त ही रखती है। अपने आपको निश्शेष भाव से उत्सर्ग करती रहती है। स्नायु-दुर्बलता की स्थिति में इसकी यह घुटन बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से हमारे सामने प्रकट होती है।

'तुमसे मैं पूछती हूँ कि तुमने भट्टिनी से कभी पूछा क्यों नहीं कि वे गंगा में क्यों कूद पड़ीं ? तुमने कल उनके अस्वाभाविक तारल्य पर डाँट क्यों नहीं दिया ?'[3]

---

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ २८९
[2] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ २९१
[3] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ २११

लेकिन यह उद्‌गार विरल है। स्वयं भट्टिनी इसकी बात का बुरा नहीं मानती वरन् भट्ट से भी कहती है –

'निपुणिका ने कुछ अनुचित कहा हो, तो मन में न लाना। वह मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करती है। तुम्हारे ऊपर उसकी जो अपार श्रद्धा है, उसका प्रमाण तो मिल ही चुका है।'[1]

भट्टिनी के प्रति निपुणिका की यह श्रद्धा उसके संपर्क के पश्चात् निरन्तर प्रकट होती रही। वह भट्टिनी की पवित्रता का परिचय देते हुये भट्ट से कहती है कि 'अब तक तुमने नारी में जो देव-मंदिर का आभास पाया है, वह तुम्हारे भोले मन की कल्पना थी। आज मैं सच-मुच तुम्हें देव-मन्दिर दिखाऊँगी।'[2]

भट्ट जब तान्त्रिकों के चक्कर में पड़ जाता है तो निपुणिका कहती है कि, 'तुम्हें इस तरह भट्टिनी को नहीं छोड़ देना चाहिये, भट्ट।'[3]

जब वह भट्टिनी की रक्षा के लिये प्रतिज्ञा करता है तब भी निपुणिका कहती है –

'भट्ट' तुम बहुत ऊपर-ऊपर चक्कर काटते हो। कविता छोड़ो, भट्टिनी की मर्म-वेदना गम्भीर है। सेवक उनके पहले भी थे; पर वे उनकी रक्षा न कर सके। देवपुत्र की अप्रमेय वाहिनी तब भी थी और अब भी है; पर भट्टिनी को वह नहीं बचा सकी। तुम अकेले क्या कर लोगे ? सोच-समझ कर प्रतिज्ञा करो।'[4]

भट्टिनी के प्रति अपार श्रद्धा रखते हुये भी वह बाण से अतुलनीय प्रेम करती है। यही कारण है कि जब वह भट्ट को भट्टिनी के मनोहर मुख की ओर तल्लीनता से देखते हुये देखती है तो भयभीत हो जाती है, क्योंकि उसे किसी ज्योतिषी ने बताया था कि, 'बाण बड़ा यशस्वी

---

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ २१३

[2] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ २८

[3] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ ११४

[4] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ १३६

कवि होगा। ......जिस दिन से वह कविता करने लगेगा, उस दिन से उसकी आयु क्षीण होने लगेगी, वह उसके बाद सहस्र दिन तक जीवित रह सकेगा।'[१] और वह भट्ट से अनुरोध करती है कि तुम भट्टिनी या किसी अन्य जीवित व्यक्ति के विषय में कविता मत लिखना। वह भट्ट के समक्ष अपना प्रेम भी प्रकट करती है 'तुम मेरे देवता हो, मैं तुम्हारा नाम जपने वाली अधम नारी हूँ। ऐसा कलुष मानस लेकर भी जो जी रही हूँ सो केवल इसलिये कि तुमने जीने योग्य समझा है।' वह बाण को नारियों की गिरी हुई दशा को सुधारने के लिये अनुरोध करती है, 'एक बार तुम सम्राटों की भृकुटियों की उपेक्षा करके इस महासत्य को ऊँचे सिंहासनों तक पहुँचा दो......बड़ा दुःख है आर्य, इसी विराट् दैन्य के अंतःस्पंदन-हीन ढूह पर यह सामाज्य की नयनहारी रथयात्रा चल रही है। मैं इस ढूह की एक नगण्य कणिका मात्र हूँ। मुझे इस योग्य बना दो कि आप अपनी अग्नि से धधक कर समूचे जंगल को भस्म कर दूं। मैं तुम्हारा करावलंब चाहती हूँ। नारी का जन्म पाकर केवल लाञ्छना पाना ही सार नहीं है। तुम्हीं ने मुझे आनन्द की ज्योतिष्कणिका दी थी। तुम्हीं मुझे तेज की चिनगारी दो, आर्य!'[२]

प्रलापजन्य स्थिति में उसका प्रेम कई बार उभर कर आया है अपूर्णता के अहसास में वह इतना जली है कि उसका धूमायित हो समाप्त हो गया। समर्थ होने पर भी उसे सार्थकता नहीं मिली बाण स्वयं उसकी सामर्थ्य और महिमा को स्वीकार करते हैं

'निपुणिका में इतने गुण हैं कि वह समाज और परिवार पूजा का पात्र हो सकती थी, पर हुई नहीं।'[3] बाण ने निरन्तर उ साथ रहते हुए भी कभी कोई कलुष उसमें नहीं देखा। निपुणि

[१] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ १५७

[२] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ ३०६

[३] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ ३२२

'हँसमुख है, कृतज्ञ है, मोहिनी है, लीलावती है – ये क्या दोष हैं ?' बाण के अनुसार दोष निपुणिका में नहीं वरन् किसी बड़े असत्य में है, जो समाज मे सत्य के नाम पर घर बना बैठा है। सेवाभाव के लिये बाण उसके प्रति अपने-आपको ऋणी मानता है।[1] निपुणिका की प्रत्येक भाव-भंगी में, प्रत्येक सेवा मे एक मौन उल्लास बराबर बताया करता है कि इस क्रिया-कलाप की अत्यन्त गहराई मे कोई और वस्तु है। आज भी वह वस्तु जहाँ की तहाँ है। केवल उसके ऊपरी सतह का फेन हट गया है। 'आज भी उसके हृदय-मन्दिर के अत्यन्त निभृत कक्ष में कोई देवता स्तब्ध बैठा है जो निश्चय ही मेरी मौन पूजा से ही सतुष्ट रहता है।'[2]

यह देवता और कोई नही प्रेम का देवता है, जो निपुणिका को जीवन-भर बाण के प्रेम की भट्टी मे जलने के लिये अग्रसर करता रहा है। सौरभ ह्रद (भद्रेश्वर के निकट) मे, प्रकृति के प्रागण मे निपुणिका को शान्ति मिलती है। उसका मन निर्मल निर्विकार हो जाता है। और जब उसे ज्ञात होता है कि भट्ट ने नाटक-मण्डली उसी के लिये तोड़ी थी। छः साल तक वह उसे ही ढूँढ़ता हुआ उदास रहा तो जैसे उसे अपने वन्ध्य जीवन की परम सार्थकता प्राप्त हो जाती है। वह अपना पाप स्वीकार करते हुए कहती है कि मैं पापिनी हूँ। न जाने क्यों मुझे दूसरो के सुख से ईर्ष्या हो जाती है। मैं सेवा-धर्म मे भी असफल हूँ और सखी-धर्म मे भी। जैसे बुझते समय दिये की ज्योति तेज हो जाती है वैसे ही निपुणिका में भी उत्साह भर गया है। अन्त मे जब रत्नावली नाटिका में निपुणिका वासवदत्ता बनी और उसने नायक बने भट्ट के हाथ मे जब रत्नावली बनी चारुस्मिता का हाथ दिया तो वह

---

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ ३२२
'उसने मेरी सेवा इतने प्रकार से और इतनी मात्रा मे की है कि मैं उसका प्रतिदान जन्म-जन्मान्तर मे भी नही कर सकूंगा।'

[2] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ ३२३

विचलित हो गई। इस आघात को सह नहीं सकी। वह अन्त में वाण को मुक्त करती हुई, उसका मार्ग उन्मुक्त करती हुई त्याग और वेदना की देवी स्वयं को सार्थक करती है। उसने दो विरोधी दिशाओं में जाने वाले प्रेम को एकसूत्र कर दिया और सदा-सदा के लिये शिथिल हो धरती पर लेट गई।[1] और अपने इस जीवन की जीर्ण काया को काट दिया।

निपुणिका साधारण स्त्री नहीं, वह 'महामाया' है। उसके जीवन में बाणभट्ट की आत्मकथा में विवेचित यह दार्शनिक सूत्र ज्यों का त्यों घटित हुआ है कि 'स्त्री की सफलता पुरुष को बाँधने में है, किन्तु सार्थकता पुरुष की मुक्ति में है।'

पुरुष का, शिव का प्रतीक वाण है। निपुणिका नारी तत्त्व की प्रतीक है। उसने अपने आपको उत्सर्ग किया है, खपाया है। लाख-लाख विपत्तियों में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर दूसरों के सुख-दुःख की चिन्ता की है। उसने सफलता पुरुष – वाण को बाँधने और सार्थकता उसे मुक्त करने में समझी है। वाण प्रारम्भ से निर्द्वन्द्व, स्वच्छन्द और उन्मुक्त है। नारी तत्त्व रूपा निउनिया ने उसे बाँधने का प्रयास किया। असफल हुई और भाग गई। असफलता का यह दंश उसे सालता रहा। लेकिन छः वर्ष बाद जब वह पान की दुकान पर वाण से पुनः मिलती है तो उसे बाँधने में सफल होती है। उसने वाण को अपनी इच्छानुसार संचालित किया है बँध जाने के कारण वह विभिन्न उलझनों में फँसता है। भट्टिनी तो बहाना मात्र है; हेतु निपुणिका है। निपुणिका ने वाण को बाँधने के लिये क्या किया ? यह विचारसरणी हमारे सामने नहीं आई। आगे चलकर निपुणिका उसे तात्विक पुरुष-

---

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृष्ठ ३७७
'भट्ट, तुम नहीं देखते कि वासवदत्ता ने किस प्रकार दो विरोधी दिशाओं में जाने वाले प्रेम को एकसूत्र कर दिया है! प्रेम एक और अविभाज्य है। उसे केवल ईर्ष्या और असूया ही विभाजित करके छोटा करते हैं।'

देवता-रूप में ही चाहती है। भौतिक सम्बन्ध में बाँधना नहीं चाहती। उसे तात्विक पुरुष-रूप में मान्यता देकर रागात्मक सम्बन्ध जोड़ती है। उसकी यह वंध्यता सार्थक हो जाती है जब बाण उसके प्रति अपने प्रेम और आकर्षण को स्वीकार कर लेता है। वह कहती है—'आर्य, आज मेरे जन्म-जन्मान्तर कृतार्थ जान पड़ते हैं। मेरे वंध्य जीवन की यह परम सार्थकता है।' वह अधिक के लिये लोभ नहीं करती और निर्द्वन्द्व पुरुष बाण को मुक्त कर देती है। अभिनय करते-करते उसके जीवन में जैसे आई थी वैसे ही चली भी जाती है। रत्नावली नाटिका के माध्यम से यह सूत्र और भी स्पष्ट हो जाता है। निपुणिका बाण को सदा-सदा के लिये मुक्त कर अपने जीवन को सार्थक बना जीवन के रंगमंच से विदा हो जाती है। यह सूत्र भट्टिनी पर घटित नहीं होता है। इसीलिये लेखक को यहीं कथा समाप्त करनी पड़ी है। निपुणिका जीवन-भर अभिनय करती रही। जो कुछ वास्तव था, उसे दबाया; अपने प्रियजनों के कल्याण के लिये उसने विपत्तियों और बंधनों को माधुर्य समझ कर अपना समस्त प्यार प्रस्तर-प्रतिमा सदृश बाण पर वार दिया। डा० रामदरश मिश्र के शब्दों में, वह आरम्भ में चंचल चकित हरिणी है, अंत में विध्य मृगी है। चारुस्मिता ने उसके लिये ठीक ही कहा है कि 'वह स्त्री जाति का शृंगार थी, सतीत्व की मर्यादा थी'—इसीलिये उसने अपने आपको निःशेष भाव से त्याग, सेवा और प्रेम के लिये निछावर कर दिया।

• •